ओ३म्

अथर्ववेदभाष्यम्

दो शब्द

ऋग्वेद 'विज्ञानवेद' होता हुआ मस्तिष्क का वेद है तो यजुर्वेद 'कर्मवेद' होता हुआ हाथों का वेद कहा जाता है। 'उपासनावेद' रूप सामवेद का सम्बन्ध हृदय से है और अथर्ववेद का सम्बन्ध इससे निचले भाग उदर से ही होना चाहिए। वस्तुत: उदर-विकार से ही सब रोग व युद्ध हुआ करते हैं और इस अथर्व में हम आयुर्वेद (Science of Medicine) तथा युद्धवेद (Science of War) को विस्तार से देखते हैं। इन विकारों से ऊपर उठाकर यह वेद हमें ब्रह्म-प्राप्ति के योग्य बनाता है, अत: यह 'ब्रह्मवेद' कहाता है। इन विकारों से बचने का सङ्केत यह प्रथम मन्त्र में ही 'वाचस्पति' शब्द से कर रहा है। यदि हम वाक् व जिह्वा के पति बन जाएँ तो न तो लड़ाइयाँ ही हों और न ही रोग। सब लड़ाइयाँ बोलने के असंयम के कारण होती हैं और सब रोग खाने में असंयम के कारण। यदि ये दो संयम परिपक्व हो जाएँ तो कोई गड़बड़ ही न हो-'Eating little and speaking little can never do harm.' इसके विपरीत 'अतिभुक्तिरतीवोक्तिः सद्यः प्राणापहारिणी'। इस अथर्व का आरम्भ आचार्य द्वारा शिष्य को उपदेश करने से होता है। यह आचार्य 'अथर्वा' है (न थर्व) डाँवाडोल वृत्तिवाला नहीं। यह स्थितप्रज्ञ 'अथर्वा' ही इन मन्त्रों का ऋषि है। यह आचार्य विद्यार्थी को पूर्ण स्वस्थ जीवन बिताने के लिए शिक्षित करता है—

अथ प्रथमं काण्डम्

अथ प्रथमोऽनुवाकः

१. [प्रथमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**वाचस्पतिः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

संसार के घटकभूत इक्कीस तत्त्व

ये त्रिषप्ताः परियन्ति विश्वा रूपाणि बिभ्रतः।
वाचस्पतिर्बला तेषां तन्वो अद्य दधातु मे॥ १॥

१. 'महत्तत्त्व, अहङ्कार व पञ्च तन्मात्राएँ'—ये सात तत्त्व हैं, जो संसार के सब रूपों का निर्माण करनेवाले हैं। 'सत्त्व, रजस् व तमस्' के भेद से ये तीन-तीन प्रकार के हैं। इसप्रकार ये **त्रिषप्ताः**=जो तीन गुणा सात=इक्कीस तत्त्व हैं, **विश्वा रूपाणि बिभ्रतः**=सब रूपों का धारण करते हुए **परियन्ति**=चारों ओर गति करते हैं और सर्वतः व्याप्तिवाले होते हैं। २. **वाचस्पतिः**=सम्पूर्ण वाङ्मय का स्वामी आचार्य **तेषाम्**=उन इक्कीस तत्त्वों के **तन्वः**=शरीर-सम्बन्धी **बला**=शक्तियों को **अद्य**=आज **मे**=मुझमें **दधातु**=धारण करे। जो तत्त्व ब्रह्माण्ड का निर्माण करते हैं, वे ही तत्त्व हमारे इन पिण्डों (शरीरों) का भी निर्माण करनेवाले हैं। उन सब तत्त्वों की शक्ति शरीर में सुरक्षित रहेगी तभी हम पूर्ण स्वास्थ्य प्राप्त करेंगे। ३. एवं, यह स्पष्ट है कि आचार्य से दिये जानेवाले ज्ञान का मूल-विषय संसार के ये इक्कीस तत्त्व ही होने चाहिएँ। इनका हमारे जीवन

से सीधा सम्बन्ध है। वही ज्ञान उपयुक्ततम है जो हमारा रक्षण करनेवाला हो। **'सह नाववतु'** इस उपनिषत् श्लोक में यही बात कही गई है। ४. आचार्य का वाचस्पति होना आवश्यक है। यदि आचार्य सम्पूर्ण वाङ्मय का पति नहीं होगा तो वह विद्यार्थी के अन्दर श्रद्धा का भाव उत्पन्न न कर सकेगा। ज्ञान-प्रदानरूप अपने कर्त्तव्य का पालन भी बिना वाङ्मय का अधिपति हुए सम्भव नहीं।

भावार्थ—संसार के सब रूपों के घटकभूत इक्कीस तत्त्वों का ज्ञान आचार्य-कृपा से हमें प्राप्त हो। इस ज्ञान के अनुष्ठान से हम अपने स्वास्थ्य का रक्षण करें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**वाचस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

शिक्षण की रमण-पद्धति

पुनरेहि वाचस्पते देवेन मनसा सह।
वसोष्पते नि रमय मय्येवास्तु मयि श्रुतम्॥ २॥

१. विद्यार्थी आचार्य से प्रार्थना करता है कि हे **वाचस्पते**=वाणी के स्वामिन्! आप **देवेन मनसा सह**='देवो दानात्' विद्यार्थी को ज्ञान देने की मनोवृत्ति के साथ **पुनः**=फिर-फिर, नव (a new) रूप में **एहि**=मुझे प्राप्त होओ। यह प्रार्थना यहाँ विद्यार्थी की ज्ञान-प्राप्ति की इच्छा को सूचित करती है। (पुनरेहि) यहाँ आचार्य की भी इस इच्छा की ध्वनि है कि मैं विद्यार्थी को अधिक-से-अधिक ज्ञान दे सकूँ, उसे अपना सम्पूर्ण ज्ञान-धन प्राप्त करा सकूँ (देवेन मनसा)। २. हे **वसोष्पते**=(वसु—A ray of light) ज्ञान की किरणों के स्वामिन्! **निरमय**=आप यहाँ शिक्षणालय में हमें रमण कराइए। हम शिक्षा-प्राप्ति में आनन्द का अनुभव करें। आचार्य की शिक्षण-पद्धति से ज्ञान इसलिए दिया जाए कि **श्रुतम्**=आचार्य-मुख से सुना हुआ ज्ञान **मयि**=मुझमें और **मयि एव**=मुझमें ही हो। मैं इस ज्ञान को भूल न जाऊँ। विद्यार्थी में ज्ञान-प्राप्ति की कामना होनी ही चाहिए—इसके बिना तो ज्ञान-प्राप्ति सम्भव ही नहीं। आचार्य विद्यार्थी की उस कामना को ज्ञान-प्रदान की विधि से विकसित करनेवाला हो। ज्ञान विद्यार्थी को बोझ-सा प्रतीत न होने लगे। बलात्—दण्डमय ढङ्ग से पढ़ा-पढ़ाया हुआ पाठ समझ में नहीं बैठता, उसका स्मरण भी नहीं रहता।

भावार्थ—आचार्य ज्ञान देने की भावना से विद्यार्थी को प्राप्त हो और वह रमण-पद्धति से पढ़ाता हुआ पठित ज्ञान को विद्यार्थी में स्थिर करे।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**वाचस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

समाज-धनुष की दो कोटियाँ—'आचार्य और शिष्य'

इहैवाभि वि तनूभे आर्त्नीइव ज्यया।
वाचस्पतिर्नि यच्छतु मय्येवास्तु मयि श्रुतम्॥ ३॥

१. **इव**=जैसे **उभे आर्त्नी**=धनुष की दोनों कोटियों को **ज्यया**=डोरी से तान देते हैं—कसकर बाँध देते हैं, उसी प्रकार **इह एव**=यहाँ—राष्ट्र व समाज में ही आचार्य व शिष्यरूपी राष्ट्र-धनुष की दोनों कोटियों को **अभिवितनु**=अपरा व परा-विद्यारूपी ज्या से तान दो। जिस प्रकार धनुष की दो कोटियों में कोई भी कोटि कम महत्त्व की नहीं होती, इसीप्रकार राष्ट्र में आचार्य व शिष्य दोनों का समानरूप से महत्त्व है। आचार्य के बिना विद्यार्थी नहीं, विद्यार्थी के बिना आचार्य नहीं। घर में पति-पत्नी का जैसे समान महत्त्व है, उसी प्रकार शिक्षणालय में आचार्य व शिष्य का। आचार्य को बनाना है, विद्यार्थी को बनना है। २. **वाचस्पतिः**=ज्ञान का स्वामी आचार्य

नियच्छतु=विद्यार्थी को नियम में रक्खे। बिना नियन्त्रण के विद्यार्थी का निर्माण नहीं हो सकता। अनियन्त्रित छात्र बड़ा होकर राष्ट्र के लिए हितकर नहीं होगा। अनियन्त्रण में पढ़ेगा भी क्या? ३. इसलिए विद्यार्थी की भी यही कामना हो कि आचार्य मेरा नियन्त्रण करे, जिससे **श्रुतम्**=आचार्य-मुख से सुना हुआ ज्ञान **मयि**=मुझमें और **मयि एव**=मुझमें ही **अस्तु**=स्थिर रहे।

भावार्थ—आचार्य और विद्यार्थी राष्ट्र-धनुष की दो कोटियाँ हैं। इनकी ज्या 'विद्या' है। आचार्य विद्यार्थियों को नियन्त्रण में चलाता है, जिससे उनका ज्ञान उनमें स्थिर रहे।

ऋषि:—**अथर्वा** ॥ देवता—**वाचस्पति:** ॥ छन्द:—**चतुष्पदा विराडुरोबृहती** ॥

नैत्यिके नास्त्यनध्याय:

उप॑हूतो वा॒चस्पति॒रुपा॒स्मान्वा॒चस्पति॑र्ह्वयताम्।
सं श्रु॒तेन॑ गमेमहि॒ मा श्रु॒तेन॒ वि रा॑धिषि॥ ४॥

१. विद्यार्थी कहते हैं कि **वाचस्पति:**=ज्ञान का स्वामी आचार्य **उपहूत:**=हमारे द्वारा पुकारा गया है। आचार्य अपने स्थान पर बैठा है, विद्यार्थी वहाँ पहुँचकर आचार्य को सम्बोधित करके अन्दर आने की स्वीकृति माँगता है और चाहता है कि **वाचस्पति:**=यह ज्ञान का स्वामी आचार्य **अस्मान्**=हमें **उपह्वयताम्**=अपने समीप बुलाए। इस पद्धति में विद्यार्थी की विनीतता बनी रहती है। 'विद्यार्थी का कक्ष नियत हो और आचार्य उसके समीप जाए' इस पद्धति में विद्यार्थी के अभिमान का पोषण होता है। विद्यार्थी आचार्य के समीप आता है तो इसमें विद्यार्थी की ज्ञान-प्राप्ति की कामना भी झलकती है। आचार्य आता है तो कई बार विद्यार्थी ऐसी कामना करता है कि 'न ही आएँ' तो ठीक रहे। विद्यार्थी ज्ञान को बोझ समझे तो यह इच्छा स्वाभाविक ही है। २. परन्तु मन्त्रोक्त विधि में तो जिज्ञासु आचार्य के समीप पहुँचता है और चाहता है कि **श्रुतेन**=इस ज्ञान-श्रवण की प्रक्रिया से हम **सङ्गमेमहि**=सङ्गत हों और **श्रुतेन**=इस ज्ञान-श्रवण की प्रक्रिया से **मा विराधिषि**=कभी पृथक् न हों, अर्थात् आचार्य के द्वारा हमारा यह अध्ययनाध्यापन नियमित रूप से चलता रहे, इसमें कभी विच्छेद न हो। भौतिक भोजन में तो उपवास हो सकता है, परन्तु इस ब्रह्मयज्ञ में अनध्याय की क्या आवश्यकता?

भावार्थ—हम आचार्य के समीप नम्रता से उपस्थित हों और सदा अध्ययन में प्रवृत्त रहें।

विशेष—इस सूक्त में एक शिक्षणालय का सुन्दर चित्रण है। आचार्य ज्ञान का स्वामी है (वाचस्पति), वह ज्ञान-किरणों का पति है (वसोष्पति)। वह ज्ञान को रोचक पद्धति से विद्यार्थियों के हृदयङ्गम करने का प्रयत्न करता है (निरमय, मय्येवास्तु)। वसोष्पति शब्द में आचार्य के उत्कृष्ट ज्ञानी होने का सङ्केत है तो वाचस्पति शब्द यह स्पष्ट कर रहा है कि आचार्य उस ज्ञान को सुन्दरता से देने की क्षमता भी रखते हैं। आचार्य आगम व संक्रान्ति दोनों दृष्टिकोणों से पारंगत हैं। विद्यार्थी ज्ञान की इच्छावाला है। वह आचार्य के समीप ज्ञान-प्राप्ति के लिए जाता है (उपहूतो वाचस्पति:) और चाहता है कि वह स्थिर ज्ञानवाला हो (मय्येवास्तु)। आचार्य उसके जीवन को नियन्त्रित करें जिससे उसकी ज्ञान-रुचि ठीक बनी रहे (नियच्छतु)। शिक्षणालय में आचार्य और शिष्य दोनों का ही महत्त्व है। दोनों में से एक के न होने से शिक्षणालय समाप्त हो जाता है। यह आचार्य विद्यार्थी को संसार के घटकभूत इक्कीस तत्त्वों का ज्ञान देने का प्रयत्न करते हैं। यही ज्ञान अत्यन्त उपयोगी है। इस ज्ञान को प्राप्त करके व्यक्ति डाँवाडोल वृत्तिवाला न रहकर स्थिर मनोवृत्ति से चलता है, अत: 'अथर्वा' (न थर्वति=चरति) कहलाता है। शरीर में उन इक्कीस तत्त्वों की स्थिति को देखने के कारण भी 'अथ अर्वाङ्' (Now within), इसका नाम अथर्वा होता है (१-४)। अब यह अथर्वा शरीर और मानस रोगों को जीतकर विजयी

बनता है। 'अथर्वा' ही इन मन्त्रों का भी ऋषि है—

२. [द्वितीयं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**पर्जन्यः** ॥ छन्द—**अनुष्टुप्** ॥

ओषधियों के लिए शर-(बाण)-भूत 'शर'

विद्मा शरस्य पितरं पर्जन्यं भूरिधायसम्।
विद्मो ष्वस्य मातरं पृथिवीं भूरिवर्पसम्॥ १ ॥

१. गत सूक्त का आचार्य विद्यार्थी को 'शर' नामक ओषधि का महत्त्व समझाता है। '**सरस्तु मुञ्जो बाणाख्यो गुन्द्रस्तेजनकः शरः**'—यह कोश-वाक्य स्पष्ट कह रहा है कि यह 'शर' सर है (सृ गतौ), जीवन को गतिमय बनानेवाला अथवा रुधिर की गति को उत्तम करनेवाला। यह 'मुञ्ज' है (मृञ्ज शुद्धि) शरीर की धातुओं का शोधन करनेवाला है। इसका नाम 'बाण' है। यह वाणी की शक्ति का उत्पादक है। 'गुन्द्र' होने से (गुद् to goad) नाड़ी-संस्थान का उत्तेजक है। तेजस्वी बनाने से 'तेजनक' नामवाला है और सब दोषों का हिंसन करने से 'शर' (शृ हिंसायाम्) है। इसलिए ब्रह्मचारी का आसन भी इसी तृण का बनाया जाता है, उसकी मेखला भी इसी से बनती है। २. हम इस **शरस्य**=शर के **पितरम्**=उत्पादक को **विद्म**=जानते हैं। वह **पर्जन्यम्**=परातृप्ति का जनक बादल ही तो है जो **भूरिधायसम्**=बहुतों का धारण व पालन करनेवाला है। बादल से बरसाये गये पानी से इस शर की उत्पत्ति होती है। हम **अस्य**=इस शर की **मातरम्**=माता के समान जन्म देनेवाली इस **पृथिवीम्**=पृथिवी को भी **सुविद्म**=अच्छी प्रकार जानते हैं, जोकि **भूरिवर्पसम्**=अत्यन्त सुन्दर आकारवाली अथवा तेजस्वितावाली है। ३. जैसे माता-पिता के गुण पुत्र में आते हैं, उसी प्रकार बादल व पृथिवी के गुण इस शर में आये हैं। एवं, यह 'शर' भूरिधायस् व भूरिवर्पस् है। यह हमारा धारण करता है तथा हमें तेजस्विता व सुन्दर आकृति प्राप्त कराता है।

भावार्थ—'शर' (मूँज) के उचित प्रयोग से हम स्वस्थ व तेजस्वी बनें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**पर्जन्यः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

दृढ़ शरीर व निर्दोष मन

ज्या॑के॒ परि॑ णो न॒माश्मा॑नं त॒न्वं॑ कृधि। वी॒डुर्वरी॒योऽरा॑ती॒रप॒ द्वेषां॒स्या कृ॑धि॥ २ ॥

१. हे **ज्याके**=शर को जन्म देनेवाली, शर की मातृभूत पृथिवि! तू **नः**=हमारे लिए **परिनम**=उचित परिणाम को पैदा करनेवाली हो, **तन्वम्**=हमारे शरीर को **अश्मानम्**=पत्थर-जैसा दृढ़ **कृधि**=कर दे। यह मातृरूप पृथिवी शर आदि को जन्म देकर हमारे शरीरों की दृढ़ता का कारण बनती है। **वीडुः**=हमारा शरीर तेरी ओषधियों के सेवन से दृढ़ बने, **वरीयः**=विशाल हो, शरीर की शक्तियाँ विस्तृत हों। हमारा शरीर उरुतर=अत्यधिक बढ़ी हुई शक्तियोंवाला हो। २. हे पृथिवि! तू हमारे शरीरों को ही पत्थर-जैसा दृढ़, सबल व विशाल शक्तियोंवाला न बना, अपितु हमारे मनों से भी **अरातीः**=न देने की भावना को तथा **द्वेषांसि**=द्वेषों को **अप आ कृधि**=दूर कर दे। उत्तम पृथिवी से उत्पन्न वानस्पतिक पदार्थों का सेवन हमें सुदृढ़ शरीरवाला तथा उदार व द्वेषशून्य मनवाला बनाए।

भावार्थ—पृथिवी माता है। इससे उत्पन्न ओषधियाँ शरीर में उसी प्रकार लगती हैं, जैसे बच्चे को माता का दूध। इनसे हमारा शरीर भी उत्तम बनता है और मन भी, शरीर सुदृढ़ बनता है तथा मन निर्द्वेष होता है।

ऋषि:—**अथर्वा** ॥ देवता—**पर्जन्यः** ॥ छन्दः—**त्रिपदाविराण्नामगायत्री** ॥

गोदुग्ध व वानस्पतिक पदार्थ

वृक्षं यद्गावः परिषस्वजाना अनुस्फुरं शरमर्चन्त्यृभुम्। शरुमस्मद्यावय दिद्युमिन्द्र॥ ३ ॥

१. प्रस्तुत मन्त्र में शरीर को 'वृक्ष' कहा है, क्योंकि मानव-जीवन का लक्ष्य यही है कि अन्ततः इस शरीर का वृश्चन=छेदन हो। हमें फिर-फिर शरीर न लेना पड़े। **यत्**=जब **गावः**=गौओं से दिया गया दूध **वृक्षम्**=इस शरीर-वृक्ष को **परिषस्वजानाः**=आलिङ्गन करनेवाला होता है तथा **अनुस्फुरम्**=(अनुर्लक्षणे) स्फूर्ति का लक्ष्य करके लोग **ऋभुम्**=(उरु भाति) तेजस्विता से दीप्त **शरम् अर्चन्ति**=शर का आदर करते हैं तब हे **इन्द्र**=शत्रुओं के विद्रावक प्रभो! **अस्मत्**=हमसे **दिद्युम्**=एक चमकते हुए घातक अस्त्र के समान **शरुम्**=क्रोध व वासना (Anger, passion) को **यावय**=दूर कीजिए। २. दूध व शर आदि ओषधियों का प्रयोग शरीर में स्फूर्ति व दीप्ति लाता है तथा मन से क्रोध व वासना को दूर करता है। यह क्रोध हमारे लिए ही एक घातक अस्त्र बनता है और हमारा ही विनाश करता है, अतः हमें प्रयत्न यही करना है कि हमारा भोजन दूध व वनस्पति ही रहे। हम घासपक्षवाले ही बनें रहें, मांसपक्षवाले न बन जाएँ। यह मांस तो (माम् सः) मुझे ही खा जाएगा।

भावार्थ—हम गोदुग्ध व शरादि वानस्पतिक पदार्थों से ही शरीर का पोषण करें।

ऋषि:—**अथर्वा** ॥ देवता—**पर्जन्यः** ॥ **छन्द—अनुष्टुप्** ॥

रोग व आस्राव को दूर करनेवाला 'मुञ्ज'

यथा द्यां च पृथिवीं चान्तस्तिष्ठति तेजनम्। एवा रोगं चास्रावं चान्तस्तिष्ठतु मुञ्ज इत्॥ ४ ॥

१. **यथा**=जैसे यह **तेजनम्**=शर (Reed) **द्यां च पृथिवीं च अन्तः**=द्युलोक और पृथिवीलोक में **तिष्ठति**=स्थित है **एव**=उसी प्रकार यह **मुञ्जः**=मुञ्ज नामक शर **रोगं च आस्रावं च**=रोग और पीब आदि बहनेवाले घावों के **अन्तः**=बीच में **तिष्ठतु**=ठहरे। २. तेजन शर या मुञ्ज बादल के पानी से पृथिवी पर उत्पन्न होता है। इसप्रकार यह मुञ्ज (मूँज, सरकण्डा) दोनों लोकों के बीच में स्थित है। पृथिवी से इसे विष-नाशक शक्ति प्राप्त होती है। यह 'मेदिनी' इसमें Medicinal properties को उपस्थित करती है और सूर्य-किरणों के द्वारा इसमें विविध औषध-गुण स्थापित होते हैं। एवं यह शर रोगों व घावों को ठीक करनेवाला हो जाता है।

भावार्थ—मुञ्ज का विधिवत् प्रयोग रोगों व घावों को दूर करता है।

विशेष—(१) सूक्त के आरम्भ में आधि-व्याधियों की शान्ति करनेवाले 'शर' के जन्म का वर्णन है। (२) यह हमें दृढ़ शरीर और निर्दोष मनवाला बनाता है। (३) हमें चाहिए कि हम गोदुग्ध व वनस्पतियों से ही शरीर का पालन करें। (४) यह निश्चय रक्खें कि इस शर (मुञ्ज) का प्रयोग हमें रोगों व घावों से बचाएगा। इस शर में 'पर्जन्य, मित्र, वरुण, चन्द्र व सूर्य' की शक्तियाँ निहित हैं।

३. [तृतीयं सूक्तम्]

ऋषि:—**अथर्वा** ॥ देवता—**पर्जन्यादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**पथ्यापङ्क्तिः** ॥

पर्जन्य

विद्मा शरस्य पितरं पर्जन्यं शतवृष्ण्यम्।
तेना ते तन्वे३ शं करं पृथिव्यां ते निषेचनं बहिष्टे अस्तु बालिति॥ १ ॥

१. गत सूक्त में शर के महत्त्व का वर्णन है, उसी को अधिक व्यक्त करते हुए कहते हैं

कि हम **शरस्य**=शर के **पितरम्**=जन्म देनेवाले **शतवृष्ण्यम्**=शतशः शक्तियोंवाले अथवा सौ वर्ष तक शक्ति को स्थिर रखनेवाले **पर्जन्यम्**=मेघ को **विद्म**=जानते हैं। वृष्टिजल से इस शर की उत्पत्ति हुई है और वृष्टिजल ने मेघ की शक्तियों को इस शर में स्थापित किया है। २. **तेन**=उस शर से **ते**=तेरे **तन्वे**=शरीर के लिए **शम्**=शान्ति **करम्**=करता हूँ। इस उद्देश्य से **ते**=तेरे **पृथिव्याम्**=पृथिवीरूप शरीर में **निषेचनम्**=इस शर के रस का निषेचन होता है और उसके परिणामस्वरूप शरीर का सब दोष **बाल् इति**=क्योंकि यह शर शरीर को प्राणित करनेवाला है, (बल प्राणने), अतः **बहिः अस्तु**=बाहर हो जाए। शर में प्राणित करने की शक्ति है, इस कारण इसके रस का शरीर में निषेचन होने पर शरीर निर्दोष हो जाता है।

भावार्थ—शर मेघ-जल से उत्पन्न होने के कारण शतशः शक्ति-सम्पन्न है, अतः यह शरीर को निर्दोष बनाता है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**पर्जन्यादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**पथ्यापङ्क्तिः** ॥

मित्र (अहन्)

विद्मा शरस्य पितरं मित्रं शतवृष्ण्यम्।
तेना ते तन्वे३ शं करं पृथिव्यां ते निषेचनं बहिष्टे अस्तु बालिति॥ २॥

१. हम **शरस्य**=शर के **पितरम्**=जन्म देनेवाले **शतवृष्ण्यम्**=शतशः शक्तियोंवाले **मित्रम्**=अहन् (दिन) को (अहोरात्रौ वै मित्रावरुणौ—तां० २५।१०।१०) **विद्म**=जानते हैं। दिन में सूर्य का प्रकाश इस शर में अपनी शतशः शक्तियों को स्थापित करता है। २. **तेन**=उस शर से **तन्वे**=तेरे शरीर के लिए **शं करम्**=शान्ति करता हूँ। **ते पृथिव्याम्**=तेरे पृथिवीरूप शरीर में **निषेचनम्**=इस शर से रस का निषेचन हो और **बाल् इति**=क्योंकि यह शर प्राणशक्ति का सञ्चार करनेवाला है, अतः **ते**=तेरे शरीर से सब दोष **बहिः अस्तु**=बाहर निकल जाए।

भावार्थ—दिन में शर सूर्य-किरणों से अपने में प्राण-शक्ति लेता है और इसप्रकार हमें शतवर्षपर्यन्त शक्तिशाली बनाता है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**पर्जन्यादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**पथ्यापङ्क्तिः** ॥

वरुण (रात्रि)

विद्मा शरस्य पितरं वरुणं शतवृष्ण्यम्।
तेना ते तन्वे३ शं करं पृथिव्यां ते निषेचनं बहिष्टे अस्तु बालिति॥ ३॥

१. हम **शरस्य**=शर के **पितरम्**=पितृभूत **वरुणम्**=रात्रि को **विद्म**=जानते हैं। यह वरुण भी **शतवृष्ण्यम्**=शतशः शक्तियों को देनेवाला है। इस रात्रिरूपी वरुण में चन्द्रमा ओषधीश होने के कारण सब ओषधियों में रस का सञ्चार करता है। इस शर को भी वह रसान्वित करता है। २. **तेन**=इस शर के द्वारा **ते तन्वे**=तेरे शरीर के लिए **शं करम्**=शान्ति करता हूँ। **ते पृथिव्याम्**=तेरे इस पृथिवीरूप शरीर में **निषेचनम्**=इस रस का सम्यक् सेचन हो और **बाल् इति**=क्योंकि यह शर प्राणशक्ति का सञ्चार करनेवाला है, अतः **ते बहिः अस्तुः**=तेरे शरीर से सब दोष बाहर हो जाएँ। शर का प्रयोग शरीर को निर्दोष बनाता है।

भावार्थ—चन्द्रमा से रस प्राप्त करके शतशः शक्तियों से युक्त यह शर हमारे शरीर को निर्दोष व स्वस्थ बनाता है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**पर्जन्यादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**पथ्यापङ्क्तिः** ॥

चन्द्र

विद्मा शरस्य पितरं चन्द्रं शतवृष्ण्यम्।
तेना ते तन्वे३ शं करं पृथिव्यां ते निषेचनं बहिष्टे अस्तु बालिति॥ ४॥

१. हम **शरस्य**=शर के **पितरम्**=पितृस्थानभूत **शतवृष्ण्यम्**=शतशः शक्तियों को जन्म देनेवाले **चन्द्रम्**=चन्द्र को **विद्म**=जानते हैं। यह चन्द्रमा शरादि ओषधियों में रस का सञ्चार करता है और ओषधियों को पुष्ट कर उन्हें आह्लादजनक बनाता है। २. **तेन**=इस शर से **ते तन्वे**=तेरे शरीर के लिए **शं करम्**=मैं शान्ति करता हूँ। **ते पृथिव्याम्**=तेरे पृथिवीरूप शरीर में **निषेचनम्**=इस शर के रस का निषेचन होता है और इस निषेचन के द्वारा **बाल् इति**=क्योंकि यह प्राणशक्ति का सञ्चार करनेवाला है, अतः **ते बहिः अस्तु**=तेरे शरीर का सारा दोष शरीर से बाहर हो जाए। इसप्रकार तीसरे मन्त्र की भावना ही यहाँ स्पष्टरूप से प्रतिपादित हो गई है।

भावार्थ—शर प्राणशक्ति के सञ्चार के द्वारा हमारे शरीरों को निर्दोष बनाता है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**पर्जन्यादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**पथ्यापङ्क्तिः** ॥

सूर्य

विद्मा शरस्य पितरं सूर्यं शतवृष्ण्यम्।
तेना ते तन्वे ३ शं करं पृथिव्यां ते निषेचनं बहिष्टे अस्तु बालिति॥ ५॥

१. हम **शरस्य**=शर के **पितरम्**=पितृभूत **शतवृष्ण्यम्**=शतशः शक्तियों के उत्पादन में उत्तम **सूर्यम्**=इस सूर्य को **विद्म**=जानते हैं। २. इस सूर्य के द्वारा उस शर में सब प्राण स्थापित किये जाते हैं, **तेन**=उस प्राणशक्ति-सम्पन्न शर से **ते तन्वे**=तेरे शरीर के लिए मैं **शं करम्**=शान्ति करता हूँ। **ते पृथिव्याम्**=तेरे पृथिवीरूप शरीर में **निषेचनम्**=इस शर के रस का सेचन होता है और **बाल् इति**=क्योंकि यह प्राणशक्ति का सञ्चार करनेवाला है, अतः **ते बहिः अस्तु**=तेरे शरीर से सब दोष बाहर हो जाए।

भावार्थ—सूर्य से शक्ति-सम्पन्न होकर शर हमारे शरीरों को निर्दोष बनाता है।

सूचना—इस सूक्त के पाँच मन्त्रों में से प्रथम मन्त्र में पर्जन्य को शर का पिता कहा गया है, चतुर्थ में चन्द्र को तथा पाँचवें में सूर्य को। द्वितीय और तृतीय मन्त्र में मित्र और वरुण इस शर के पिता हैं। ये मित्र और वरुण वस्तुतः **'प्राणोदानौ वै मित्रावरुणौ'** इस शतपथवचन (१।८।३।१२) के अनुसार प्राण और उदान हैं। 'प्राण' अम्लजन है और 'उदान' उद्रजन है। ये दोनों मिलकर ही प्रथम मन्त्र के पर्जन्य का निर्माण करते हैं। एवं, ये दोनों मन्त्र प्रथम मन्त्र के व्याख्याभूत हो जाते हैं। **अर्धमासौ वै मित्रावरुणौ, य एव आपूर्यते स वरुणः, यो उपक्षीयते स मित्रः** (शतपथ २।४।४।१८) के अनुसार मित्र और वरुण कृष्ण व शुक्लपक्ष हैं और इनका सम्बन्ध चतुर्थ मन्त्र के चन्द्र से है। **'अहोरात्रौ वै मित्रावरुणौ'** (तां० २५।१०।१०) के अनुसार मित्र और वरुण दिन और रात हैं जिनका निर्माण सूर्य के अधीन है। यह सूर्य ही पञ्चम मन्त्र में शर का पितर कहा गया है। इस सारे विवेचन से यह स्पष्ट है कि मित्र और वरुण का सम्बन्ध 'पर्जन्य, चन्द्र और सूर्य' तीनों से है। यहाँ मित्र-वरुण के एक ओर पर्जन्य है तो दूसरी ओर चन्द्र और सूर्य। इस क्रम द्वारा भी उपर्युक्त सम्बन्ध सङ्केतित हो रहा है। इस सूक्त के पाँच मन्त्रों में पर्जन्य आदि पाँच को शर का पिता कहा गया है। वे सब शर में शतशः शक्तियों का आधान करते हैं और उससे शर हमारे शरीरों को निर्दोष बनाता है। इस सूक्त के

अगले चार मन्त्रों में मूत्र-दोष निवारण का उल्लेख है। इस दोष के दूरीकरण पर ही स्वास्थ्य का बहुत कुछ निर्भर होता है—

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**पर्जन्यादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'मूत्र-निरोध'-निवारण

यदान्त्रेषु गवीन्योर्यद्वस्तावधि संश्रुतम्।
एवा ते मूत्रं मुच्यतां बहिर्बालिति सर्वकम्॥ ६॥

१. **यत्**=जो **मूत्रम्**=मूत्र-जल **आन्त्रेषु**=आँतों में, **गवीन्योः**=मूत्र-नाड़ियों में, **यत्**=जो **वस्तौ**=मूत्राशय में **अधिसंश्रुतम्**=(श्रवति=to go, move) गतिवाला हुआ है—वहाँ एकत्र हो गया है, **ते मूत्रम्**=तेरा वह मूत्र-जल **एव**=शर के प्रयोग से इसप्रकार **बहिः मुच्यताम्**=बाहर छूट जाए, **इति**=जिससे कि **सर्वकम्**=सम्पूर्ण शरीर **बाल्**=प्राणशक्ति-सम्पन्न बने। २. शरीर में मूत्र के रुक जाने से शरीर में विष फैल जाता है और तब यूरेमिया आदि रोग मृत्यु का कारण बनते हैं। मूत्र द्वारा ये विष शरीर से बाहर हो जाते हैं। इन विषों के निकल जाने पर शरीर के सब अङ्ग ठीक से प्राणशक्ति-सम्पन्न हो जाते हैं।

भावार्थ—शर का प्रयोग हमें मूत्र-निरोध आदि रोगों से मुक्त करे।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**पर्जन्यादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

मेहन-प्रभेद

प्र ते भिनद्मि मेहनं वर्त्रं वेशन्त्याइव।
एवा ते मूत्रं मुच्यतां बहिर्बालिति सर्वकम्॥ ७॥

१. मूत्र-निरोध से पीड़ित व्यक्ति को आथर्वणी चिकित्सा में निपुण वैद्य कहता है कि मैं **ते मेहनम्**=तेरे मूत्रद्वार को इसप्रकार **प्रभिनद्मि**=खोल देता हूँ **इव**=जैसेकि **वेशन्त्याः वर्त्रम्**=एक महान् सरोवर के बन्ध को खोल देते हैं। २. **एव**=इसप्रकार करने से **ते मूत्रम्**=शरीर में रुका हुआ यह मूत्र-द्रव **बहिः मुच्यताम्**=बाहर निकल जाता है। इसके साथ ही निरुद्ध विष भी निकल जाते हैं और **इति**=इस व्यवस्था से **सर्वकम्**=शरीर के सब अङ्ग **बाल्**=(बल सञ्चरणे) ठीक से कार्य करने लगते हैं।

भावार्थ—मूत्र-द्वार का विकार दूर होकर मूत्र-द्रव बाहर हो और शरीर निर्विष बने।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**पर्जन्यादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

मूत्राशय का उद्बन्धन

विषितं ते वस्तिबिलं समुद्रस्योदधेरिव।
एवा ते मूत्रं मुच्यतां बहिर्बालिति सर्वकम्॥ ८॥

१. गतमन्त्र का वैद्य ही कहता है कि **ते**=तेरा **वस्तिबिलम्**=मूत्राशय का द्वार मैंने ऐसे **विषितम्**=खोल दिया है, **इव**=जैसेकि **उदधेः**=जल के धारण करनेवाले **समुद्रस्य**=समुद्र का द्वार खोल दिया जाता है। २. **एव**=इस व्यवस्था से **ते**=तेरा यह **मूत्रम्**=नाना विषों से युक्त मूत्र-द्रव **बहिः मुच्यताम्**=बाहर निकल जाए और **इति**=इसप्रकार **सर्वकम्**=शरीर के सब अङ्ग **बाल्**=पुनः अपने में जीवन-शक्ति का सञ्चय (Hoard again) करनेवाले हों।

भावार्थ—मूत्राशय का उद्बन्धन होकर सविष मूत्र-द्रव शरीर से पृथक् हो और शरीर में पुनः शक्ति-सञ्चय हो।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**पर्जन्यादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

मूत्रावसर्जन

यथेषुका परापतदवसृष्टाऽधि धन्वनः।
एवा ते मूत्रं मुच्यतां बहिर्बालिति सर्वकम्॥ ९॥

१. **यथा**=जिस प्रकार **अधिधन्वनः**=धनुष् पर से **अवसृष्टा**=छोड़ा हुआ **इषुका**=बाण **परापतत्**=सुदूर जा गिरता है, **एव**=इसीप्रकार बन्धनों के हट जाने पर (अवसृष्टा) **ते मूत्रम्**=तेरा यह विषैला मूत्र-द्रव **बहिः मुच्यताम्**=बाहर छूट जाए और **इति**=इसप्रकार **सर्वकम्**=तेरे सारे अङ्ग **बाल्**=सबल हो जाएँ। २. मूत्र-द्रव के ठीक प्रकार से बाहर निकल जाने पर ही स्वास्थ्य का बहुत कुछ निर्भर करता है, अतः वैद्य इसकी व्यवस्था करके रुग्ण पुरुष को नीरोग बनाने के लिए यत्नशील होता है।

भावार्थ—मूत्र-प्रवाह के ठीक होने से शरीर नीरोग रहता है।

विशेष—इन मन्त्रों में कहा है कि—मूत्र-निरोध का निवारण किया जाए (६)। आवश्यक होने पर मेहन-प्रभेद किया जाए (७)। मूत्राशय के द्वार को खोला जाए (८)। मूत्रावसर्जन होकर शरीर नीरोग हो (९)। इस स्वास्थ्य के लिए जल का प्रयोग भी महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है—

४. [चतुर्थं सूक्तम्]

ऋषिः—**सिन्धुद्वीपः कृतिर्वा** ॥ देवता—**आपः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

मधुमिश्रित पय

अम्बयो यन्त्यध्वभिर्जामयो अध्वरीयताम्। पृञ्चतीर्मधुना पयः॥ १॥

१. प्रभु ने वेद के द्वारा जीव को यज्ञों का उपदेश दिया है। इन यज्ञों व अध्वरों को अपनानेवाले व्यक्ति प्रभु के सच्चे पुत्र हैं। ये प्रभु आज्ञा को पालते हुए प्रभु का समादर करते हैं—**'तस्मात् सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्'**। इन यज्ञों के द्वारा वृष्टि की व्यवस्था करके प्रभु नदियों का प्रवाह चलाते हैं एवं, ये नदियाँ प्रभु की पुत्रियों के समान हैं। यज्ञशील पुरुष प्रभु के पुत्र हैं और नदियाँ यज्ञशील पुरुषों की बहिनों के रूप में यहाँ चित्रित हुई हैं। २. **अध्वरीयताम्**=यज्ञशील पुरुषों की **जामयः**=बहिनों के तुल्य **अम्बयः**=('अवि शब्दे' से अम्बि, जैसे 'नद शब्दे' से नदी) नदियाँ **अध्वभिः यन्ति**=मार्गों से चलती हैं। नदी का मार्गों से चलने का महत्त्व यह है कि न तो वे सूख ही जाती हैं और न ही उनमें पूर (Flood) आते हैं। इसप्रकार ये नदियाँ इन यज्ञशील पुरुषों का उसी प्रकार हित करती है जैसे बहिन भाई का। ३. ये नदियाँ यज्ञों से उत्पन्न होने के कारण **पयः**=अपने जल को **मधुना**=मधु से—सब ओषधियों के सार से **पृञ्चन्तीः**=सम्पृक्त करती हैं। इन नदियों का जल औषध-गुणों से युक्त होता है। यज्ञों में आहुत हुआ घृत व हव्य-पदार्थ सूक्ष्मतम कणों में विभक्त होकर वृष्टिजल के बिन्दुओं का केन्द्र बनता है। प्रत्येक बूँद के केन्द्र में, अग्निहोत्र में हुत, घृतकण विद्यमान होता है। इसप्रकार यह जल शक्ति व नीरोगता देनेवाला बनता है।

भावार्थ—यज्ञों के अनुष्ठान से नदियों का जल शक्तिप्रद व नीरोगता का जनक होता है।

ऋषिः—**सिन्धुद्वीपः कृतिर्वा** ॥ देवता—**आपः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

सूर्य-किरणों के सम्पर्कवाला जल

अमूर्या उप सूर्ये याभिर्वा सूर्यः सह। ता नो हिन्वन्त्वध्वरम्॥ २॥

१. गतमन्त्र की नदियों के जल का सङ्केत करते हुए कहते हैं कि **अमूः**=वे **याः**=जो जल

उप सूर्ये=सूर्य के समीप हैं, **वा**=अथवा **सूर्यः याभिः सह**=सूर्य जिनके साथ है, **ताः**=वे जल **नः**=हमारे **अध्वरम्**=यज्ञ को—यज्ञ के भाव को **हिन्वन्तु**=बढ़ाते (Promote further) हैं। २. सूर्य के सम्पर्क में स्थित जलों के इस गुण का कितना महत्त्व है कि वे प्रयुक्त होने पर हमारी यज्ञिय भावना की वृद्धि करते हैं। वे जल जो सदा अन्धकारवाले प्रदेश में होते हैं उनमें शरीर व मन को निर्दोष बनाने के गुणों में भी कमी आ जाती है। नदियों के जल का सदा यही महत्त्व है कि वे सदा सूर्य-किरणों के सम्पर्क में हैं, इससे उस जल के रोग-कृमियों का नाश हो जाता है और उनमें प्राणदायी तत्त्व की स्थापना हो जाती है।

भावार्थ—जल वही ठीक है जो सूर्य के सम्पर्क में है।

ऋषिः—**सिन्धुद्वीपः कृतिर्वा**॥ देवता—**आपः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥

उत्तम दूध, उत्तम अन्न

अपो देवीरुप ह्वये यत्र गावः पिबन्ति नः। सिन्धुभ्यः कर्त्वं हविः॥ ३॥

१. मैं **देवीः अपः**=दिव्य गुणोंवाले जल को **उपह्वये**=पुकारता हूँ—इन दिव्य गुणोंवाले जलों की प्राप्ति के लिए प्रार्थना करता हूँ। **नः**=हमारी **गावः**=गौएँ **यत्र**=यहाँ **पिबन्ति**=शुद्ध जल का पान करती हैं। शुद्ध जलों को पीकर ही तो वे दिव्य गुणयुक्त दूध देनेवाली होंगी। पेय-जल के गुण ही तो उनके दूध में आएँगे। २. इसके अतिरिक्त **सिन्धुभ्यः**=नदियों के द्वारा **हविः कर्त्वम्**=हव्य पदार्थों को उत्पन्न करने के लिए इन जलों की आराधना करता हूँ। दिव्य गुणवाले जलों से अन्न भी उत्तम उत्पन्न होता है। वृष्टिजल से उत्पन्न अन्न इसीलिए सर्वोत्तम होता है।

भावार्थ—दिव्य गुणयुक्त जलों के पान से गौओं का दूध भी उत्तम होता है और इस जल से उत्पन्न अन्न भी सात्त्विक होता है।

ऋषिः—**सिन्धुद्वीपः कृतिर्वा**॥ देवता—**आपः**॥ छन्दः—**पुरस्ताद् बृहती**॥

अमृतं भेषजम्

अप्स्वन्तरमृतमप्सु भेषजम्।
अपामुत प्रशस्तिभिरश्वा भवथ वाजिनो गावो भवथ वाजिनीः॥ ४॥

१. **अप्सु अन्तः**=जलों में **अमृतम्**=अमृतत्व है—नीरोगता है। **अप्सु**=इन जलों में ही **भेषजम्**=औषध है। इनके प्रयोग से हम रोगों को रोकनेवाले बनते हैं और उत्पन्न रोगों को नष्ट कर सकते हैं। २. **उत**=और **अपाम्**=जलों के **प्रशस्तिभिः**=प्रशस्त गुणों से **अश्वाः**=अश्व **वाजिनः**=शक्तिशाली **भवथ**=बनते हैं तथा **गावः**=गौएँ **वाजिनीः**=शक्तिशालिनी **भवथ**=होती हैं। यहाँ 'अश्व' पुरुष का प्रतीक है 'गावः' स्त्रियों का प्रतीक हैं। पुरुष और स्त्री इन जलों के ठीक प्रयोग से ही शक्ति-सम्पन्न बनते हैं। वस्तुतः जल ही शरीर में शक्ति के रूप में निवास करते हैं। पुरुष में ये वीर्य और स्त्री में रज के रूप में रहते हैं। शक्ति ही मनुष्य को नीरोग बनाती है और अगली सन्तति को जन्म देकर यह हमें शरीर के दृष्टिकोण से भी अमर बनाती है—'**प्रजाभिरग्ने अमृतत्वमश्याम्**'।

भावार्थ—जल अमृत हैं, ये भेषज=औषध हैं और शक्ति देनेवाले हैं।

विशेष—इस सूक्त के आरम्भ में कहा है कि यज्ञों के प्रचलन से वृष्टि होकर बहनेवाली नदियों का जल मधुमय होता है (१)। सदा सूर्य-किरणों के सम्पर्क में रहनेवाले जल उत्तम होते हैं (२)। इनसे उत्तम दूध व उत्तम अन्न प्राप्त होता है (३)। इनमें अमृत व भेषज निहित है (४)। यह जल सचमुच कल्याण करनेवाला है—

५. [पञ्चमं सूक्तम्]

ऋषिः—**सिन्धुद्वीपः कृतिर्वा** ॥ देवता—**आपः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

मयोभुवः आपः

आपो हि ष्ठा मयोभुवस्ता न ऊर्जे दधातन। महे रणाय चक्षसे॥ १॥

१. **आपः**=जल **हि**=निश्चय से **मयोभुवः**=कल्याण-जनक **स्थ**=हैं (ष्ठा=स्थ)। इनके ठीक प्रयोग से शरीर, मन व मस्तिष्क सभी ठीक होते हैं और हमारा जीवन कल्याणमय होता है। २. **ताः**=ये जल **नः**=हमें **ऊर्जे**=बल और प्राणशक्ति के लिए **दधातन**=धारण करें। साथ ही **महे**=महत्त्व के लिए, उचित भार के लिए, हमें धारण करें। इनके प्रयोग से हम शरीर को यथोचित्त भार (Standard Weight) में स्थापित कर सकते हैं। **रणाय**=रमणीयता के लिए अथवा (रण शब्दे) शब्द-शक्ति के लिए ये हमें स्थापित करें। इनके ठीक प्रयोग से हमारी वाणी की शक्ति बढ़ती है। **चक्षसे**=ये जल हमें दृष्टिशक्ति के लिए धारण करें। इनके ठीक प्रयोग से ही हमारी दृष्टि की शक्ति स्थिर रहेगी।

भावार्थ—जल नीरोगता देते हैं, बल बढ़ाते हैं, उचित भार प्राप्त कराते हैं, वाक्शक्ति को ठीक रखते हैं और दृष्टि को तीव्र करते हैं।

ऋषिः—**सिन्धुद्वीपः कृतिर्वा** ॥ देवता—**आपः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

शिवतम-रस

यो वः शिवतमो रसस्तस्य भाजयतेह नः। उशतीरिव मातरः॥ २॥

१. हे जलो! **यः**=जो **वः**=आपका **शिवतमः**=अत्यन्त कल्याण करनेवाला **रसः**=रस है, **नः**=हमें **इह**=इस जीवन में **तस्य**=उसका **भाजयत**=भागी बनाओ। जलों का गुण रस है। यह रस ही उनके सब गुणों का अधिष्ठान है। इस रस को प्राप्त करके मैं उनके सब गुणों को अपनानेवाला बनता हूँ। २. हे जलो! आप मुझे इस गुण को इसप्रकार प्राप्त कराओ **इव**=जैसेकि **उशतीः मातरः**=हित की कामनावाली माताएँ अपनी सन्तानों को स्वास्थ्यवर्धक दुग्धरस प्राप्त कराती हैं। वस्तुतः ये दिव्य जल हमारे लिए उतने ही हितकर हैं, जितना कि बच्चों के लिए मातृदुग्ध हितकर है।

भावार्थ—जलों का शिवतम-रस हमें प्राप्त हो।

ऋषिः—**सिन्धुद्वीपः कृतिर्वा** ॥ देवता—**आपः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

जनन-शक्ति

तस्मा अरं गमाम वो यस्य क्षयाय जिन्वथ। आपो जनयथा च नः॥ ३॥

१. हे **आपः**=जलो! हम **वः**=आपके **तस्मै**=उस रस के लिए **अरम्**=पर्याप्तरूप से **गमाम**=प्राप्त हों **यस्य क्षयाय**=जिसके निवास के कारण **जिन्वथ**=आप हमें प्रीणित करते हो। जलों में एक रस है, उसके द्वारा हमारे शरीर की सब शक्तियों का वर्धन होता है। २. **च**=और हे जलो! आप **नः**=हमें **जनयथ**=जनन-शक्ति से युक्त करो। जलों के ठीक प्रयोग से बन्ध्यत्व व नपुंसकत्व का निराकरण होकर हम उत्तम सन्तान को जन्म देनेवाले हों।

भावार्थ—जलों के रस से शरीर की शक्तियों का वर्धन होता है और जनन-शक्ति ठीक होती है।

ऋषिः—**सिन्धुद्वीपः कृतिर्वा** ॥ देवता—**आपः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

वार्यों का ईशान

ईशा॑ना॒ वार्या॑णां॒ क्षय॑न्तीश्चर्षणी॒नाम्। अ॒पो या॑चामि भेष॒जम्॥ ४॥

१. मैं **अपः**=जलों से **भेषजं याचामि**=औषध माँगता हूँ—इन जलों में सब औषधगुण तो हैं ही। इन जलों से मैं उस औषध को माँगता हूँ जोकि **वार्याणाम्**=सब वरणीय गुणों व तत्त्वों के **ईशानाः**=ईशान हैं। इनमें कौन-सी वरणीय वस्तु नहीं है? वस्तुतः इसी कारण से ये **चर्षणीनाम्**=मनुष्य के **क्षयन्तीः**=उत्तम निवास का कारण हैं (क्षि निवासे)। शरीर के लिए सब वरणीय वस्तुओं को प्राप्त कराके ये जल हमारे निवास को उत्तम बनाते हैं।

भावार्थ—सब वरणीय तत्त्वों के ईशानभूत ये जल हमारे लिए औषध हैं। ये हमारे सब रोगों का निवारण करके हमारे निवास को उत्तम बनाते हैं।

विशेष—इस सूक्त के आरम्भ में जलों को कल्याणकारक कहा है (१)। इनमें प्रभु ने अत्यन्त कल्याणकारक रस की स्थापना की है (२)। ये उस रस के द्वारा हमें जनन-शक्ति से युक्त करते हैं (३) और सब वरणीय वस्तुओं के ईशान होते हुए ये जल सब रोगों के औषध बनकर हमारे निवास को उत्तम बनाते हैं (४)। ये शान्ति देनेवाले तथा रोगों पर आक्रमण करके हमारी रक्षा करनेवाले हैं—

६. [षष्ठं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा कृतिर्वा** ॥ देवता—**आपः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

रोगशमन—भययावन

शं नो॑ दे॒वीर॒भिष्ट॑य॒ आपो॑ भवन्तु पी॒तये॑। शं योर॒भि स्र॑वन्तु नः॥ १॥

१. **नः**=हमारे लिए **देवीः**=रोगों को जीतने की कामनावाले (दिव् विजिगीषा) **आपः**=जल **शम्**=शान्ति देनेवाले हों। ये जल **अभिष्टये**=रोगों पर आक्रमण करने के लिए हों और इसप्रकार **पीतये**=रक्षण के लिए **भवन्तु**=हों। जल रोगों को जीतने की कामना करते हैं, उनपर आक्रमण करते हैं और उन्हें समाप्त करके हमारा रक्षण करते हैं। यहाँ विजय-प्राप्ति के क्रम का अति सुन्दरता से उपक्षेप हुआ है—'कामना, आक्रमण, विजय'। विजय-प्राप्ति के लिए प्रत्येक क्षेत्र में सर्वप्रथम कामना की आवश्यकता होती है, उसके बाद पुरुषार्थ और तब विजय सम्भव होती है। २. **शंयोः**=शान्ति देनेवाले, रोगों का शमन और भयों का यावन करनेवाले ये जल **नः**=हमारे **अभि**=दोनों ओर **स्रवन्तु**=प्रवाहित हों। अन्दर पीने के रूप में तथा बाहर स्नान के रूप में इनका प्रयोग होता है। इस प्रयोग में सामान्य नियम है कि 'अन्दर गरम, बाहर ठण्डा'। ठण्डे पानी से स्नान पौष्टिक है और 'गरम पानी पीना' कफ-रोगों को न होने देने का साधन है।

भावार्थ—जल रोगों पर आक्रमण करके हमारा रक्षण करते हैं। ये रोगों का शमन व भयों का यावन (दूर) करनेवाले हैं।

ऋषिः—**अथर्वा कृतिर्वा** ॥ देवता—**आपः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

जल+अग्नि

अ॒प्सु मे॒ सोमो॑ अब्रवीद॒न्तर्विश्वा॑नि भेष॒जा। अ॒ग्निं च॑ वि॒श्वश॑म्भुवम्॥ २॥

१. **सोमः**=उस सोम परमात्मा ने **मे**=मेरे लिए **अब्रवीत्**=यह उपदेश किया है कि **अप्सु अन्तः**=जलों में **विश्वानि भेषजा**=सब औषध हैं। जल सब रोगों का प्रतीकार करनेवाले हैं। एक जल-चिकित्सक जल के विविध प्रयोगों से शरीर को नीरोग करता है। जल का 'भेषजम्'

यह नाम ही पड़ गया है। यह सचमुच औषध है। जल के विषय में निम्न नियमों का पालन शरीर को स्वस्थ रखता है—(क) उष:काल में अधिक-से-अधिक जल पीने का प्रयत्न करना, (ख) भोजन के आरम्भ व अन्त में जल न लेकर बीच-बीच में थोड़ा-थोड़ा करके लेना, (ग) पीने के लिए गरम पानी का प्रयोग करना, गर्मियों में भी बर्फ का प्रयोग न करना, (घ) स्नान के लिए ठण्डे पानी का ही प्रयोग करना, स्नान स्पञ्जिङ्ग रूप में करना। २. उसी सोम प्रभु ने **च**=यह भी बताया कि **अग्निं विश्वशंभुवम्**=अग्नि सब शान्तियों को उत्पन्न करनेवाला है। गरम पानी में अग्नि व जल का मेल हो जाता है और ये दोनों मिलकर रोगों को शान्त करनेवाले होते हैं। शरीर में गरमी होती है, अत: वहाँ ठण्डा पानी भेजना ठीक नहीं। बाहर से शरीर ठण्डा है, वहाँ ठण्डे पानी का प्रयोग ही ठीक है।

भावार्थ—जल में सब औषध हैं। अग्नि व जल दोनों मिलकर शान्ति देनेवाले हैं।

ऋषि:—**अथर्वा कृतिर्वा** ॥ देवता—**आप:** ॥ छन्द:—**गायत्री** ॥

आरोग्य कवच

आप॑: पृणी॒त भे॑ष॒जं वरू॑थं त॒न्वे॒३॒ मम॑। ज्योक्च॒ सूर्यं॑ दृ॒शे॥ ३॥

१. **आप:**=हे जलो! आप **भेषजम्**=रोग-निवारक गुण को **पृणीत**=अपने में सुरक्षित करो। (पृणाति to protect, to maintain)। इस रोग-निवारक गुण के द्वारा आप **मम तन्वे**=मेरे शरीर के लिए **वरूथम्**=(Cover) आच्छादन होओ। आपसे सुरक्षित हुआ मैं किसी रोग का शिकार न होऊँ। २. **च**=और रोगों का शिकार न होता हुआ मैं **ज्योक्**=दीर्घकाल तक **सूर्यं दृशे**=सूर्य को देखने के लिए होऊँ। सूर्य-दर्शन करता हुआ दीर्घ-जीवन प्राप्त करूँ। जल 'वारि' है, ये रोगों का निवारण करते ही हैं। रोग-निवारण के द्वारा ये जीवन को सुखी बनाते हैं, अत: इनका नाम 'कम्' है।

भावार्थ—रोग-निवारण के गुणवाले ये जल मेरे लिए आच्छादन का काम करें। मैं दीर्घ-जीवनवाला बनूँ।

ऋषि:—**अथर्वा कृतिर्वा** ॥ देवता—**आप:** ॥ छन्द:—**पथ्यापङ्क्ति:** ॥

विविध जल

शं न॒ आपो॑ धन्व॒न्या॒३॒: शमु॑ सन्त्वनू॒प्या॒ᳬ:। शं न॑: खनि॒त्रिमा॒
आप॒: शमु॒ या: कु॒म्भ आभृ॑ता: शि॒वा न॑: सन्तु॒ वार्षि॑की:॥ ४॥

१. **न:**=हमारे लिए **धन्वन्या:**=मरुस्थल के शाद्वल प्रदेशों में होनेवाले **आप:**=जल **शम्**=शान्तिकर हों, **उ**=और **अनूप्या:**=कच्छ प्रदेशों, खादर में होनेवाले जल भी **शं सन्तु**=शान्ति देनेवाले हों। **खनित्रिमा:**=भूमि को खोदकर कुओं से प्राप्त होनेवाले **आप:**=जल **न:**=हमें **शम्**=शान्ति दें। **उ**=और **या:**=जो **कुम्भे**=घड़े में **आभृता:**=भरकर रक्खे गये हैं, वे जल भी हमारे लिए शान्ति दें और अन्त में **वार्षिकी:**=वृष्टि से प्राप्त होनेवाले जल **न: शिवा:**=हमारे लिए कल्याणकर हों। एवं, ये विविध प्रकार के जल हमें अनुकूलता के साथ नीरोग करते हुए शान्ति दें व हमारा कल्याण करें। २. भिन्न-भिन्न जल प्राप्त होते हैं, यहाँ इन सब जलों से नीरोगता के लिए प्रार्थना की गई है।

भावार्थ—विविधरूप में प्राप्त होनेवाले जल हमारा कल्याण करें।

विशेष—सूक्त के आरम्भ में कहा है कि जल रोगों का शमन व भयों का यावन करनेवाले हैं (१)। इनमें सब औषध विद्यमान हैं (२)। ये जल आरोग्य के लिए कवच हैं (३)। विविध

प्रकार के जल हमारा कल्याण करें (४)। जलों के प्रयोग से शरीर को निर्दोष बनाकर अब उत्तम प्रचार व दण्ड-व्यवस्था से समाज-शरीर को निर्दोष बनाने का प्रकरण उपस्थित करते हैं। बहाव के धर्मवाले जलों का अन्दर-बाहर दो प्रकार से प्रयोग करके अपना रक्षण करनेवाला 'सिन्धुद्वीप' ४ व ५ सूक्तों का ऋषि था। 'सिन्धूनां द्विधा प्रयोगेण आत्मानं पाति' इति सिन्धुद्वीपः। अठारहवें सूक्त के दो भाग हैं। एक भाग वह है जिसमें अशुभ लक्षणों का प्रतिपादन हैं और दूसरा भाग वह है जिसमें उन लक्षणों को दूर करने के उपायों का प्रतिपादन है। ये दोनों भाग मिश्र-से अवश्य हैं, परन्तु वे अत्यन्त स्पष्ट हैं। क्या शरीर के और क्या मन के सभी विकार 'निर्माणात्मक कार्यों में लगे रहने से, द्वेष न करने से, स्नेह से, काम-क्रोध-लोभ को काबू करने से, अनुकूल मति से, अनुकूल आत्म-प्रेरणा से व प्रभु-स्मरण से' दूर होते हैं। विकारों का दूर होना ही सौभाग्य प्राप्ति है। समाज के दोषों का नाश करनेवाला 'चातन' 'चातयति नाशयति' इति चातनः ७ व ८ सूक्तों का ऋषि है—

७. [सप्तमं सूक्तम्]

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

परिवर्तन

स्तुवानमग्न आ वह यातुधानं किमीदिनम्।
त्वं हि देव वन्दितो हन्ता दस्योर्बभूविथ॥ १॥

१. एक ब्राह्मण उन व्यक्तियों में प्रचार-कार्य आरम्भ करता है जो सदाचार का जीवन न बिताकर कदाचार में पड़ जाते हैं। उसके उपदेश से प्रभावित होकर वे अपने जीवन में परिवर्तन लाते हैं और इस प्रचारक का स्तवन करनेवाले होते हैं कि इसने जीवन में उत्तम परिवर्तन ला दिया। इन परिवर्तित जीवनवाले व्यक्तियों को यह ब्राह्मण फिर से समाज का अङ्ग बनाता है। मन्त्र में कहते हैं कि हे **अग्ने**=ज्ञानप्रकाश के द्वारा उन्नति-पथ पर ले-चलनेवाले ब्राह्मण! तू **स्तुवानम्**=इन स्तुति करनेवालों को **आवह**=समाज में ले-आ। आज तक ये **यातुधानम्**=पीड़ा का आधान करनेवाले बने हुए थे तथा **किमीदिनम्**=इनका प्रतिक्षण यही बोल होता था कि 'किम् अदानि' क्या खाऊँ। ये औरों को पीड़ित करते थे और उनके द्रव्यों को अन्याय से छीनकर भोगों के बढ़ाने में लगे हुए थे। २. हे **देव**=ज्ञान-प्रकाश देनेवाले ज्ञानिन्! **त्वं हि**=आप ही निश्चय से **वन्दितः**=इन परिवर्तित जीवनवाले यातुधानों से वन्दित होते हुए **दस्योः**=(दस् उपक्षये) इन क्षय करनेवालों के **हन्ता**=नाशक **बभूविथ**=होते हो। इनकी दस्युवृत्ति को समाप्त करके आप इन्हें दस्यु नहीं रहने देते। औरों को पीड़ा न देने के कारण अब ये 'यातुधान' नहीं रहे। प्रतिक्षण 'क्या खाऊँ' इस बात का जाप न करने से ये अब 'किमीदिन्' नहीं रहे। क्षय की वृत्ति से ऊपर उठ जाने से इनका दस्युत्व समाप्त हो गया है।

भावार्थ—राष्ट्र में ब्राह्मण जोकि अग्नि और देव है, वे 'यातुधानों, किमीदिनों व दस्युओं' के जीवन को ज्ञान-प्रचार के द्वारा परिवर्तित करके उन्हें फिर से समाज का अङ्ग बना देते हैं।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

प्रचारक का युक्ताहारवाला जीवन

आज्यस्य परमेष्ठिञ्जातवेदस्तनूवशिन्। अग्ने तौलस्य प्राशान यातुधानान्वि लापय॥ २॥

१. सुधारक ब्राह्मण से कहते हैं कि **परमेष्ठिन्**=उच्च स्थान में स्थित होनेवाले, प्रकृति व जीव से ऊपर उठकर हृदयस्थ 'प्रभु' में स्थित होनेवाले! **जातवेदः**=प्रभु में स्थित होकर ज्ञान

का प्रकाश प्राप्त करनेवाले! **तनूवशिन्**=अपने शरीर को वश में करनेवाले! **अग्रे**=ज्ञानप्रकाश के द्वारा उन्नति के कारणभूत ब्राह्मण! **आज्यस्य**=घी का **तौलस्य प्राशान**=तोलकर प्रयोग करनेवाला बन। तेरा भोजन मपा-तुला हो। यह परिमित व युक्त आहार ही तेरे स्वास्थ्य को ठीक रक्खेगा और वस्तुतः तेरी इस संयतवृत्ति का ही उन यातुधान और किमीदिन लोगों पर प्रभाव पड़ेगा। तू संयत जीवन के क्रियात्मक उपदेश के द्वारा **यातुधानान्**=इन पीड़ित करनेवाले दुष्टों को **विलापय**=नष्ट कर दे, रुला दे। ये अपने रद्दी जीवन पर पश्चात्ताप में विलाप करें। इनकी वृत्ति में परिवर्तन हो ये 'यातुधान' न रह जाएँ।

भावार्थ—प्रचारक ब्राह्मण युक्ताहारवाले होकर अपने संयत जीवन से यातुधानों के जीवन में भी परिवर्तन कर दें।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

सुधार-कार्य में जनता का सहयोग

वि लपन्तु यातुधाना अत्त्रिणो ये किमीदिनः।
अथेदमग्ने नो हविरिन्द्रश्च प्रति हर्यतम्॥ ३॥

१. गतमन्त्र के अनुसार ज्ञानी पुरुषों का प्रचार इसप्रकार से हो कि उससे प्रभावित होकर **ये**=जो **यातुधानाः**=प्रजा में पीड़ा का आधान करनेवाले, **किमीदिनः**=प्रतिक्षण 'क्या खाऊँ' इस राग को आलापनेवाले, **अत्रिणः**=अपने मज़े के लिए औरों को खा-जानेवाले (अद् भक्षणे) लोग हैं, वे पश्चात्ताप से युक्त होकर **विलपन्तु**=विलाप करनेवाले हो जाएँ। उन्हें अपने हीन कर्मों का दुःख हो और वे अपने जीवन-सुधार का निश्चय करें। २. इस सुधार-कार्य में जनता का सहयोग इस रूप में हो सकता है कि वे इस कार्य के लिए कुछ आहुति दें, अतः वे कहते हैं कि **अथ**=अब हे **अग्ने**=ज्ञान-प्रसारक ब्राह्मण! आप **च**=और **इन्द्रः**=शासन करनेवाला राजा **इदम्**=इस **नः**=हमारी **हविः**=आहुति को—कर के रूप में दिये गये धनांश को तथा दान के रूप में दिये गये धन को **प्रतिहर्यतम्**=प्रेमपूर्वक स्वीकार करो। जनता का इस रूप में सहयोग होगा तो यह सुधार-कार्य बड़ी उत्तमता से चलेगा और राष्ट्र का उत्थान हो सकेगा।

भावार्थ—जनता के आर्थिक सहयोग से राजा ज्ञान-प्रसारक ब्राह्मणों द्वारा सुधार-कार्य को उन्नति दे।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

यातुधानों का आत्मसमर्पण

अग्निः पूर्व आ रभतां प्रेन्द्रो नुदतु बाहुमान्। ब्रवीतु सर्वो यातुमानयमस्मीत्येत्य॥ ४॥

१. **अग्निः**=ज्ञान-प्रसार द्वारा उन्नति-पथ पर ले-चलनेवाला ब्राह्मण **पूर्वः आरभताम्**=प्रथम अपने कार्य को आरम्भ करे। ब्राह्मण का यह कार्य बहुत उत्तमता से तभी चल सकता है जबकि राज्य-शक्ति उसकी पीठ पर हो, अतः मन्त्र में कहा गया कि **बाहुमान्**=शक्तिशाली **इन्द्रः**=राजा **प्रनुदतु**=उन प्रचारकों को आगे बढ़ने के लिए प्रेरित करनेवाला हो। इन सुधारकों को राजा की ओर से सब प्रकार की सुविधा प्राप्त हो। २. इन सुधारकों का कार्यक्रम इतना प्रभावोत्पादक व मधुर हो कि **सर्वः यातुमान्**=प्रजा में पीड़ा का आधान करनेवाले सब दुर्जन लोग प्रभावित होकर उस अग्नि के प्रति अपना समर्पण (surrender) करनेवाले हों और **एत्य**=आकर **ब्रवीतु**=स्वयं कहें कि **अयम्**=यह **अस्मि इति**=मैं हूँ। मैं आपकी शरण में हूँ। आप से दिये जानेवाले दण्ड को मैं सहर्ष स्वीकार करूँगा और आगे से इस असत् कार्य में मैं कभी प्रवृत्त न होऊँगा।

भावार्थ—राज्यशक्ति की सहायता प्राप्त करके सुधारक अपना कार्य इस सुन्दरता से करें कि सब दुर्जन अपनी दुर्जनता को छोड़ने का निश्चय कर, आत्मसमर्पण कर दें।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

ब्राह्मण की शक्ति

पश्या॑म ते वी॒र्यं जातवेद॒: प्र णो॑ ब्रूहि यातु॒धाना॑न्नृचक्षः।
त्वया॒ सर्वे॒ परि॑तप्ताः पु॒रस्ता॒त्त आ य॑न्तु प्रब्रु॒वा॒णा उपे॒दम्॥ ५॥

१. राजा सुधारक से कहता है—हे **जातवेदः**=(जातः वेदः यस्मात्) गतमन्त्रों में उल्लिखित यातुधानों में ज्ञान का प्रचार करनेवाले ज्ञानिन्! **ते वीर्यं पश्याम**=हम तेरे पराक्रम को देखें। हे **नृचक्षः**=मनुष्यों के लिए मार्ग-दर्शन का कार्य करनेवाले ब्राह्मण! तू **यातुधानान्**=इन प्रजा-पीड़कों के प्रति **नः**=हमारे सन्देश को **प्रब्रूहि**=अच्छी प्रकार कह दे। राजा का सन्देश यही तो है कि 'तुम यातुधानत्व को छोड़कर सज्जनों का जीवन बितानेवाले बनो, इसी में तुम्हारा और सारे राष्ट्र का कल्याण है'। ब्राह्मण की शक्ति इसी में तो है कि वह इन यातुधानों को यह सन्देश प्रभावशाली रूप से सुना सके। २. हे ब्राह्मण! **त्वया**=तुझसे—तेरे उपदेश से प्रभावित होकर **ते सर्वे**=ये सारे यातुधान **परितप्ताः**=सन्ताप व पश्चात्ताप अनुभव करते हुए **पुरस्तात् आयन्तु**=अपने छिपने के स्थानों को छोड़कर सामने आ जाएँ। **इदम्**=अपने पश्चात्ताप को **प्रब्रुवाणाः**=कहते हुए वे **उप**=हमारे समीप प्राप्त हों। ब्राह्मणों के उपदेश का इन यातुधानों पर यह प्रभाव हो कि वे राजा के प्रति अपना समर्पण कर दें और अपने पश्चात्ताप की भावना को स्पष्टरूप से कह दें।

भावार्थ—ब्राह्मण का प्रभाव तभी व्यक्त होता है जब उसके उपदेश से प्रभावित होकर यातुधान अपने छिपने के स्थानों को छोड़कर राजा के प्रति अपना अर्पण कर दें।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

राजा का सहायक ब्राह्मण

आ र॑भस्व जातवेदो॒ऽस्माका॒र्था॑य जज्ञिषे।
दू॒तो नो॑ अग्ने भू॒त्वा या॑तु॒धाना॒न्वि ला॑पय॥ ६॥

१. **हे जातवेदः**=ज्ञान का प्रादुर्भाव करनेवाले ब्राह्मण! **आरभस्व**=तू अपने कार्य को आरम्भ कर। **अस्माकार्थाय**=राष्ट्र को उत्तम व सुखी बनानेरूप हमारे कार्य के लिए **जज्ञिषे**=तू उत्पन्न हुआ है। राजा का कर्त्तव्य 'प्रजापालन' ही तो है। इस प्रजापालनरूप कार्य के दो मुख्य अंश ये हैं—(क) बाह्य शत्रु के साथ युद्ध तथा (ख) अन्तः दुर्जनों को दण्डादि से सुधारना। इनमें इस पिछले कार्य में ब्राह्मण राजा के लिए बड़ा सहायक होता है। २. इस ब्राह्मण से राजा कहता है कि हे **अग्ने**=ज्ञान-प्रसार के द्वारा उन्नति-पथ पर ले-जानेवाले ब्राह्मण! तू **नः**=हमारा **दूतः**=सन्देशवाहक **भूत्वा**=होकर **यातुधानान्**=पीड़ा देनेवाले इन दुर्जनों को **विलापय**=पश्चात्ताप से विलाप करनेवाला बना दे। ये अपने कुकर्मों के लिए रो उठें और फिर से न करने के लिए दृढ़ निश्चयी हों।

भावार्थ—राष्ट्र से दुर्जनों को दूर करने के कार्य में ब्राह्मण राजा का दाहिना हाथ बनें। वे उन्हें ज्ञान देकर सुधरने की भावना से भर दें।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

सुधार व समाप्ति

त्वम॑ग्ने यातु॒धाना॒नुप॑बद्धाँ इ॒हा व॑ह। अथै॑षा॒मिन्द्रो॒ वज्रे॒णापि॑ शी॒र्षाणि॑ वृश्चतु॥ ७॥

१. हे **अग्ने**=ज्ञान-प्रसारक ब्राह्मण! **त्वम्**=तू **उपबद्धान्**=जो आगे से पाप न करने के निश्चय में अपने को बाँध चुके हैं, उन **यातुधानान्**=प्रजापीड़कों को **इह**=यहाँ—समाज में **आवह**=सर्वथा प्राप्त करानेवाला हो। ब्राह्मण इन्हें ज्ञान दे। उस ज्ञान से प्रभावित होकर यदि ये आत्मसमर्पण कर दें और पुनः पाप न करने का निश्चय करें तो इस दृढ़ निश्चय के बन्धन में बद्ध इन भूतपूर्व यातुधानों को पुनः समाज का अङ्ग बना दिया जाए। २. परन्तु यदि कोई यातुधान किसी भी प्रकार से सुधरता न दिखे तो **अथ**=अब, विवशता में **इन्द्रः**=असुरों का संहार करनेवाला राजा **एषां शीर्षाणि**=इनके सिरों को **वज्रेण**=वज्र से **अपि वृश्चतु**=निश्चय से काट दे। स्वस्थ न होनेवाले अङ्ग को अन्ततः काटना ही पड़ता है, इसीप्रकार यदि कोई व्यक्ति किसी भी प्रकार से सुधरता प्रतीत न हो तो राजा उसे दण्ड देकर समाप्त कर देता है, जिससे वह प्रजा को पीड़ित न कर सके।

भावार्थ—ब्राह्मण सुधरे हुए जीवनवाले यातुधानों को फिर से समाज का अङ्ग बना देता है, परन्तु जो सुधरें ही नहीं, राजा उन्हें दण्ड द्वारा समाप्त कर प्रजा का रक्षण करता है।

विशेष—इस सूक्त के प्रथम मन्त्र में दस्युओं के दस्युत्व के नाश का उल्लेख है (१)। यह कार्य युक्ताहारवाला ज्ञानी ब्राह्मण ही कर पाता है (२)। जनता धन देकर इस सुधार-कार्य में सहयोग देती है (३)। ब्राह्मण की शक्ति इसी में होती है कि यातुधान अपनी गुहाओं से बाहर आ जाएँ और अपने को राज्य-शक्ति के प्रति सौंप दें (५)। इसप्रकार ब्राह्मण प्रजा-रक्षण-कार्य में राजा का सहायक होता है (६)। यदि कोई सुधरता ही नहीं तो राजा उसे समाप्त कर देता है (७)। प्रजा को इस सुधार-कार्य के लिए दिल खोलकर सहायता करनी चाहिए।

८. [अष्टमं सूक्तम्]

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**बृहस्पतिरग्नीषोमौ च** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

नदी जैसे झाग को

इदं हविर्यातुधानान्नदी फेनमिवा वहत्।
य इदं स्त्री पुमानकरिह स स्तुवतां जनः ॥ १ ॥

१. प्रजा कहती हैं कि **इदं हविः**=हमारे द्वारा दान व कर-रूप में दिया हुआ यह धन **यातुधानान्**=पीड़ा का आधान करनेवाले लोगों को **आवहत्**=उसी प्रकार बहा ले-जाए **इव**=जैसेकि **नदी फेनम्**=नदी झाग को बहा ले-जाती है, अर्थात् इस धन का प्रयोग मार्ग-भ्रष्ट लोगों में ज्ञान-प्रसार के लिए किया जाए, जिससे वे परिष्कृत जीवनवाले बन जाएँ और समाज में यातुधानों का अभाव ही हो जाए। २. यह ज्ञान-प्रसार का कार्य इसप्रकार हो कि **यः पुमान्**=जो भी पुरुष अथवा **स्त्री**=स्त्री **इह**=यहाँ **इह अकः**=इस समाज को पीड़ित करने का कार्य करता था **सः जनः**=वह मनुष्य इस कार्य से पराङ्मुख होकर अब इस प्रचारक की **स्तुवताम्**=स्तुति करनेवाला हो जाए। वह अनुभव करे कि इस ज्ञानदाता अग्नि ने मार्ग-दर्शन करके हमारा वस्तुतः कल्याण किया है।

भावार्थ—प्रजा की आर्थिक सहायता से ज्ञान-प्रसार के द्वारा समाज से यातुधानों का विलोप हो जाए।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**बृहस्पतिरग्नीषोमौ च** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

स्वागत

अयं स्तुवान आगमदिमं स्म प्रति हर्यत। बृहस्पते वशे लब्ध्वाग्नीषोमा वि विध्यतम् ॥ २ ॥

१. गतमन्त्र के अनुसार परिवर्तित जीवनवाला **अयम्**=यह भूतपूर्व यातुधान **स्तुवानः**=अपने ज्ञानदाता की प्रशंसा करता हुआ **आगमत्**=आया है। यह अब पुनः समाज का अङ्ग बनना चाहता है, अतः आप **इमम्**=इससे **स्म**=अवश्य **प्रतिहर्यत**=प्रीति करनेवाले होओ—इसे अपने में मिला लेने की कामनेवाले होओ। यदि इसे अब भी घृणा से देखते रहे तो इसके पुनः ग़लत मार्ग पर चले जाने का भय हो सकता है। २. हे **बृहस्पते**=ज्ञान के पति ब्राह्मण! अब ऐसी व्यवस्था करो कि **अग्निषोमा**=अग्नि और सोम इसे **वशे लब्ध्वा**=अपने वश में करके **विविध्यतम्**=विशेषरूप से विद्ध करें। इसमें अग्नि व सोम बनने का भाव प्रबल हो, वह भाव इसके हृदय में जड़ जमाए। यह निश्चय कर ले कि मुझे आगे बढ़नेवाला अग्नि बनना है और उन्नत होकर सोम—'विनीत' बने रहना है। निरभिमानता मेरी उन्नति का भूषण बनेगी।

भावार्थ—भूतपूर्व यातुधान अपने जीवन को परिष्कृत करके समाज में आता है तो सामाजिकों को चाहिए कि प्रेम से उसका स्वागत करें। यह प्रेम उसे 'अग्नि और सोम' बनने की भावना में दृढ़ करनेवाला होगा।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

प्रेम से सुधार

यातुधानस्य सोमप जहि प्रजां नयस्व च।
नि स्तुवानस्य पातय परमक्ष्युतावरम्॥ ३॥

१. हे **सोमप**=सोम का—वीर्यशक्ति का अपने अन्दर ही पान करनेवाले, अतएव उत्साह-सम्पन्न ज्ञान-प्रसारक विद्वन्! तू **यातुधानस्य**=इन प्रजापीड़कों की **प्रजाम्**=सन्तति को **जहि**=(हन् गतौ) प्राप्त करनेवाला हो **च**=और उन्हें ज्ञान देकर **नयस्व**=उत्तम मार्ग से ले-चल। २. तुम्हारे प्रेमभरे कार्यों को देखकर यातुधान को भी लज्जा अनुभव हो कि 'कहाँ मैं और कहाँ ये लोग'। 'औरों को कष्ट पहुँचाना ही मेरा पेशा बना हुआ है और उन्होंने किस प्रकार लोक-सेवा का कार्य अपनाया है।' इसप्रकार **स्तुवानस्य**=ज्ञान-प्रसारकों की स्तुति करते हुए इस पश्चात्तापयुक्त पुरुष की **परम्**=उत्कृष्ट, अर्थात् दक्षिण **उत**=और **अवरम्**=निचली, अर्थात् वाम **अक्षि**=आँख को **निपातय**=तू झुकानेवाला हो। ज्ञान-प्रसारक क्रूरचित्त यातुधान को अपने व्यवहार से लज्जित करके ही सुधार सकता है।

भावार्थ—यातुधानों की सन्तति से मेल करके उन्नति-पथ पर ले-चलने का यत्न होना चाहिए। इस प्रेमभरे कार्य को देखकर यातुधान भी लज्जित होंगे और अवश्य सन्मार्ग का ग्रहण करेंगे।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**बार्हतगर्भात्रिष्टुप्** ॥

यातुधानत्व की परम्परा का विनाश

यत्रैषामग्ने जनिमानि वेत्थ गुहा सतामत्त्रिणां जातवेदः।
तांस्त्वं ब्रह्मणा वावृधानो जह्येषां शततर्हमग्ने॥ ४॥

१. हे **जातवेदः अग्ने**=ज्ञान का प्रसार करनेवाले और ज्ञान द्वारा ही उन्नति-पथ पर ले-चलनेवाले ब्राह्मण! **एषां गुहा सताम्**=गुफाओं में छिपकर रहनेवाले इन **अत्त्रिणाम्**=औरों को खा-जानेवाले—हानि पहुँचानेवाले यातुधानों के **जनिमानि**=उत्पन्न सन्तानों को **यत्र**=जहाँ भी **वेत्थ**=जानते हो, जहाँ भी इनके वंशजों का पता लगे, वहीं पहुँचकर **त्वम्**=तू **तान्**=उन सबको **ब्रह्मणा**=ज्ञान के प्रसार से **वावृधानः**=खूब ही वृद्धि-पथ पर ले-चलता हुआ **अग्ने**=हे ब्राह्मण!

तू **एषां शततर्हं जहि**=इनका शतशः प्रकारों से विनाश कर दे। इनके जीवन की कमियों को दूर करके इनके जीवन को सुन्दर बना दे।

भावार्थ—यातुधानों की प्रजाओं के सुधार से यातुधानत्व की परम्परा चल नहीं पाती। उसका मूल में ही विनाश हो जाता है।

विशेष—सूक्त के प्रारम्भ में ही कहा गया है कि प्रजा के धन का समाज-सुधार के लिए ऐसा उपयोग हो कि यातुधान इसप्रकार नष्ट हो जाएँ जैसेकि नदी फेन को नष्ट कर देती है (१)। सुधरने के सङ्कल्पवाले आगत यातुधानों का हमें स्वागत करना चाहिए (२)। सुधार प्रेम से ही सम्भव है (३)। इनकी सन्तानों को प्रेम से सुधारकर यातुधानत्व की परम्परा को मूल में ही विनष्ट कर देना चाहिए। इस प्रकार वैयक्तिक व सामाजिक सुधार होने पर प्रार्थना करते हैं—

९. [नवमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**वस्वादयो मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

वसु व ज्योति की प्राप्ति

अस्मिन्वसु वसवो धारयन्त्विन्द्रः पूषा वरुणो मित्रो अग्निः।
इममादित्या उत विश्वे च देवा उत्तरस्मिञ्ज्योतिषि धारयन्तु॥ १॥

१. **अस्मिन्**=इस डाँवाडोल न होनेवाले व्यक्ति में **वसवः**=(प्राणो वै वसवः—जै० ४।२।३) प्राण **वसु धारयन्तु**=प्राणशक्ति को धारण करें। यह स्वस्थ शरीरवाला व प्राणशक्ति-सम्पन्न होकर ही तो यज्ञादि उत्तम कर्मों में प्रवृत्त हो सकेगा। २. **इमम्**=इस प्राणशक्ति-सम्पन्न पुरुष को **इन्द्रः**=इन्द्र, **पूषा**=पोषण की देवता, **वरुणः**=द्वेष-निवारण के द्वारा श्रेष्ठता का सम्पादन करनेवाली देवता, **मित्रः**=स्नेह की देवता, **अग्निः**=अग्रगति की देवता, **आदित्याः**=सब स्थानों से उत्तमता का आदान करने की देवता **उत**=और **विश्वेदेवाः च**=सब दिव्य भावनाएँ भी **उत्तरस्मिन् ज्योतिषि**=सर्वोत्कृष्ट ज्योति में, अर्थात् परमात्मा में **धारयन्तु**=धारण करें। ये जितेन्द्रियता (इन्द्र), शक्ति का पोषण (पूषा), निर्द्वेषता (वरुण), स्नेह (मित्र), अग्रगति (अग्नि), गुणों का आदान (आदित्य) व दिव्य भावनाएँ प्रभु-प्राप्ति के साधन हैं।

भावार्थ—प्राणशक्ति-सम्पन्न शरीर में जितेन्द्रियता आदि को धारण करके हम प्रभु को प्राप्त करें।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**वस्वादयो मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

उत्तम 'नाकलोक' का अधिरोहण

अस्य देवाः प्रदिशि ज्योतिरस्तु सूर्यो अग्निरुत वा हिरण्यम्।
सपत्ना अस्मदधरे भवन्तूत्तमं नाकमधि रोहयेमम्॥ २॥

१. **अस्य**=गतमन्त्र के अनुसार अपने-आपको वसु व उत्कृष्ट ज्योति में धारण करनेवाले पुरुष के **प्रदिशि**=आदेश में, कथन में, **ज्योतिः अस्तु**=ज्योति हो। यह जो कुछ बोले वह औरों को ज्ञान देनेवाला हो। इसके कथन में **सूर्यः**=सूर्य हो, **अग्निः**=अग्नि हो **उत वा**=और या **हिरण्यम्**=हितरमणीय ज्योति हो। इसके कथन मस्तिष्करूप द्युलोक में ज्ञान का सूर्य उदय करनेवाले हों। उदर में जाठराग्नि को ठीक रखनेवाले हों और हृदयान्तरिक्ष में हितमरणीय ज्योति को स्थापित करनेवाले हों। २. इस सब उपदेश का यह परिणाम हो कि **सपत्नाः**=काम, क्रोध, लोभ आदि शत्रु **अस्मत् अधरे भवन्तु**=हमारे नीचे हों, अर्थात् हम उन्हें पाँवों तले कुचलने में समर्थ हों। ३. इसप्रकार लोकहित के कार्यों में लगे हुए **इमम्**=इस ज्ञान-प्रसारक पुरुष को **उत्तमं**

नाकम्=उत्कृष्ट स्वर्गलोक में **अधिरोहय**=अधिरूढ़ कीजिए। यह स्वर्ग को प्राप्त करनेवाला हो, इसका जीवन सुखी हो।

भावार्थ—प्राणशक्ति व प्रभु की ज्योति को प्राप्त करके हम लोकहित के लिए ज्ञान का प्रसार करें। उस ज्ञान से लोगों के मस्तिष्क, शरीर व हृदय को हम सुन्दर बनाने का प्रयत्न करें। लोग काम, क्रोध, लोभ को जीतने की भावना से भरे हों। इस लोकहित के द्वारा हम स्वर्ग के अधिकारी बनें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

श्रेष्ठ पद-प्राप्ति

येनेन्द्राय समभरः पयांस्युत्तमेन ब्रह्मणा जातवेदः।
तेन त्वमग्न इह वर्धयेमं सजातानां श्रैष्ठ्य आ धेह्येनम्॥ ३॥

१. हे **जातवेदः**=सर्वज्ञ प्रभो! **येन**=जिस **उत्तमेन**=सर्वोत्कृष्ट **ब्रह्मणा**=ज्ञान से **इन्द्राय**=जितेन्द्रिय पुरुष के लिए **पयांसि**=आप्यायनों को—शक्तियों के वर्धन को **समभरः**=आप भरते हो—जिस ज्ञान के द्वारा आप अन्नमयकोश में तेज को, प्राणमयकोश में वीर्य को, मनोमयकोश में ओज व बल को, विज्ञानमयकोश में मन्यु को तथा आनन्दमयकोश में सहस् को भरते हैं, **तेन**=उसी ज्ञान से हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **त्वम्**=आप **इह**=यहाँ—समाज में **इमम्**=इस वसु व उत्कृष्ट ज्योति को धारण करनेवाले पुरुष को **वर्धय**=बढ़ाइए—सब प्रकार से उन्नत कीजिए। २. इसप्रकार ज्ञान से उन्नत करके आप **एनम्**=इसे **सजातानाम्**=सजात पुरुषों में—समवयस्क पुरुषों में **श्रैष्ठ्ये**=श्रेष्ठ स्थान में **आधेहि**=स्थापित कीजिए। यह ज्ञान के द्वारा औरों से आगे बढ़ जाए। हे अग्ने! आपका अग्नित्व इसे आगे बढ़ाने में ही तो प्रमाणित हो सकता है। ज्ञान के द्वारा यह सब प्रकार का वर्धन करके श्रेष्ठ बने और औरों का कल्याण करनेवाला हो।

भावार्थ—ज्ञान से ही सारा आप्यायन होता है, उसे प्राप्त करके हम समवयस्कों में आगे बढ़नेवाले हों।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

यज्ञ व वर्चस्

ऐषां यज्ञमुत वर्चो ददेऽहं रायस्पोषमुत चित्तान्यग्ने।
सपत्ना अस्मदधरे भवन्तूत्तमं नाकमधि रोहयेमम्॥ ४॥

१. गतमन्त्र के अनुसार सजातों में श्रेष्ठ बननेवाला व्यक्ति कहता है हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! आपके द्वारा ज्ञान से श्रेष्ठता को प्राप्त कराया गया **अहम्**=मैं **एषाम्**=इन सजातों के **यज्ञम्**=यज्ञ को **उत वर्चः**=और शक्ति को **आ ददे**=देता हूँ—इनके जीवन को यज्ञात्मक बनाकर इन्हें विलास से ऊपर उठाता हूँ, परिणामतः इनकी शक्ति का वर्धन करता हूँ। यज्ञमय जीवन से ही शक्ति का वर्धन होता है। २. मैं इन्हें **रायस्पोषम्**=धन का पोषण प्राप्त कराता हूँ—धनार्जन योग्य बनाता हूँ **उत**=और साथ ही **चित्तानि**=इन्हें चित्तों को भी प्राप्त कराता हूँ। इनकी स्मृतियों को भी ठीक रखता हूँ ताकि ये अपने स्वरूप व जीवनोद्देश्य को (कोऽहं, कुत आयातः) न भूलते हुए धन का सदा सद्व्यय ही करें। ३. हे प्रभो! आप ऐसी कृपा कीजिए कि **सपत्नाः**=काम, क्रोध, लोभ आदि शत्रु **अस्मत्**=हमारे **अधरे भवन्तु**=पाँवों-तले ही रहें, हम इन्हें पराजित करनेवाले हों। इसप्रकार हमें शत्रु-दलन के योग्य बनाकर आप **इमम्**=इस आपके भक्त को **उत्तमं नाकम्**=उत्तम स्वर्गलोक में **अधिरोहय**=अधिरूढ़ कीजिए। कामादि सपत्न ही नरक के द्वार हैं, इन्हें जीतकर

स्वर्ग क्यों न मिलेगा?

भावार्थ—हमारा जीवन यज्ञमय हो जिससे हमारी शक्तियाँ जीर्ण न हों। हम धन के पोषण के साथ आत्म-स्मृतिवाले हों जिससे उन धनों के कारण विलासमय जीवनवाले न हो जाएँ।

विशेष—सूक्त का आरम्भ 'वसु व ज्योति' की प्राप्ति की प्रार्थना से होता है(१)। हम काम, क्रोध व लोभ को जीतकर उत्तम स्वर्गलोक का अधिरोहण करनेवाले हों (२)। हमें श्रेष्ठपद की प्राप्ति हो (३)। यज्ञमय जीवन से हम वर्चस्वी बने रहें। धनों के साथ आत्म-स्मरणवाले हों ताकि धन हमारे निधन का कारण न बन जाए (४)। असत्य भाषणादि पापों से हम ऊपर उठ सकें—

१०. [दशमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**असुरः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

राजा वरुण

अयं देवानामसुरो वि राजति वशा हि सत्या वरुणस्य राज्ञः।
ततस्परि ब्रह्मणा शाशदान उग्रस्य मन्योरुदिमं नयामि॥ १॥

१. **अयम्**=यह **देवानाम् असुरः**=(असून् राति) देवों में प्राणशक्ति का सञ्चार करनेवाला प्रभु **विराजति**=विशेषरूप से चमकता है अथवा वह सम्पूर्ण संसार का शासन करता है। सब देवों को दीप्ति देनेवाला वह प्रभु ही है—'**तेन देवा देवतामग्र आयन्**'—उस प्रभु से ही सब देव देवत्व को प्राप्त हुए। '**तस्य भासा सर्वमिदं विभाति**'—उस प्रभु की दीप्ति से ही ये सूर्यादि देव दीप्त हो रहे हैं। २. **राज्ञः**=उस देदीप्यमान **वरुणस्य**=संसार से सब पापों का निवारण करनेवाले—अनृतवादी को पाशों से जकड़नेवाले **(ये ते पाशाः सप्त सप्त त्रेधा तिष्ठन्ति विषिता रुशन्तः छिनन्तु सर्वे अनृतं वदन्तम्)** उस प्रभु की **वशाः**=इच्छाएँ **हि**=निश्चय से **सत्याः**=सत्य हैं। प्रभु जो चाहते हैं, वही होता है। प्रभु की शासन-व्यवस्था में कोई किसी प्रकार का विघात नहीं कर सकता। ३. **ततः**=उस प्रभु से प्राप्त **ब्रह्मणा**=ज्ञान के द्वारा **परिशाशदानः**=चारों ओर वर्त्तमान कामादि शत्रुओं को छिन्न-भिन्न करता हुआ मैं **उग्रस्य**=उस तेजस्वी प्रभु के **मन्योः**=क्रोध से **इमम्**=इस अपने को **उत् नयामि**=ऊपर उठाता हूँ, अपने को प्रभु के क्रोध का पात्र नहीं बनने देता। प्रभु के क्रोध का भाजन तो वही व्यक्ति होता है जो कामादि शत्रुओं का इस शरीर में प्रवेश होने देता है। ज्ञान के द्वारा इन शत्रुओं का संहार करने पर हम प्रभु के प्रिय होते हैं।

भावार्थ—प्रभु संसार के शासक हैं। ज्ञान प्राप्त करके और वासनाओं का नाश करने पर हम प्रभु के कोप से दूर रहते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**वरुणः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

अ-द्रोह

नमस्ते राजन्वरुणास्तु मन्यवे विश्वं ह्यु ग्र निचिकेषि द्रुग्धम्।
सहस्रमन्यान्प्र सुवामि साकं शतं जीवाति शरदस्तवायम्॥ २॥

१. हे **राजन् वरुण**=संसार का शासन करनेवाले—पापियों को पाशों से जकड़नेवाले प्रभो! **ते मन्यवे नमः अस्तु**=आपके मन्यु के लिए हम नमस्कार करते हैं। आपका क्रोध हमें दण्डित करनेवाला न हो। हे **उग्र**=तेजस्विन् प्रभो! हम इस बात को अच्छी प्रकार समझते हैं कि आप **विश्वं द्रुग्धम्**=सम्पूर्ण द्रोह को **हि**=निश्चय से **निचिकेषि**=जानते हैं। हमारे मनों में उठनेवाली द्रोह की भावनाएँ आपसे छिपी नहीं हैं, अतः मैं द्रोह की सम्पूर्ण भावनाओं से ऊपर उठता हूँ।

२. इनसे ऊपर उठता हुआ मैं **सहस्रम्**=हज़ारों **अन्यान्**=अन्य पुरुषों को भी **साकम्**=अपने साथ **प्रसुवामि**=अद्रोह की भावना से चलने के लिए प्रेरित करता हूँ। स्वयं अद्रोहवाला होकर औरों को भी अद्रोह के लिए कहता हूँ। इसप्रकार **तव अयम्**=आपका यह पुरुष **शतं जीवाति**=सौ वर्ष तक जीनेवाला बनता है। अद्रोह की वृत्ति का दीर्घजीवन से सम्बन्ध है। मन में उत्पन्न होनेवाली द्रोह की भावनाएँ वस्तुतः हमारे ही जीवन का द्रोह करती हैं और हम अल्प जीवनवाले हो जाते हैं।

भावार्थ—प्रभु का प्रिय व्यक्ति कभी द्वेष नहीं करता।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**वरुणः** ॥ छन्दः—**ककुम्मत्यनुष्टुप्** ॥

असत्य से दूर

यदुवक्थानृतं जिह्वया वृजिनं बहु। राज्ञस्त्वा सत्यधर्मणो मुञ्चामि वरुणादहम् ॥ ३ ॥

१. **यत्**=जो **जिह्वया**=जिह्वा से **बहु**=बहुत अधिक **अनृतम्**=असत्य को तथा **वृजिनम्**=पाप को—पाप-वचन को **उवक्थ**=तूने अब तक बोला है **त्वा**=तुझे **सत्यधर्मणः**=सत्य का धारण करनेवाले **राज्ञः वरुणात्**=उस शासक, अनृतवादी के पाशों को छिन्न करनेवाले प्रभु के स्मरण के द्वारा **अहम्**=मैं **मुञ्चामि**=उस पाप से छुड़ाता हूँ। २. जब हम उस प्रभु का शासक के रूप में स्मरण करते हैं तब हमारी असत्य भाषणादि की वृत्तियाँ नष्ट हो जाती हैं। प्रभु का विस्मरण ही हमें पाप की ओर ले-जाता है।

भावार्थ—हम प्रभु का वरुणरूप में स्मरण करते हैं और असत्य से दूर होते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**वरुणः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

भवसागर से पार

मुञ्चामि त्वा वैश्वानरादर्णवान्महतस्परि।
सजातानुग्रेहा वद ब्रह्म चाप चिकीहि नः ॥ ४ ॥

१. गतमन्त्रों के अनुसार जब हम द्रोह और असत्य से ऊपर उठने का निश्चय करते हैं तब प्रभु कहते हैं कि मैं **त्वा**=अद्रोही व सत्यनिष्ठ तुझे इस **महतः**=महान् **वैश्वानरात्**=सब मनुष्यों के विचरण के स्थानभूत **अर्णवात्**=भवसागर से **परिमुञ्चामि**=मुक्त करता हूँ। भवसागर से तैरने के लिए '**ऋतस्य नावः सुकृतमपीपरन्**' सत्य की नाव अत्यन्त उपयोगी है। सत्य और अद्रोह (अहिंसा) को अपनाकर हम मोक्ष का साधन कर पाते हैं। २. प्रभु कहते हैं कि **उग्र**=सत्य व अद्रोह के पालन से तेजस्वी बना हुआ तू **इह**=इस जीवन में **सजातान्**=अपने समान जन्मवाले इन मनुष्यों को **आवद**=इस ज्ञान का उपदेश कर—इस ज्ञान का कथन कर। इसके द्वारा उन्हें भी सत्य व अद्रोह के महत्त्व को समझा **च**=और तू स्वयं **नः**=हमारे **ब्रह्म**=इस वेदज्ञान को **अपचिकीहि**=अच्छी प्रकार जाननेवाला बन ('अप' उपसर्ग यहाँ 'निर्देश' अर्थ में आया है) और जानकर औरों के प्रति उसका निर्देशक बन।

भावार्थ—संसार-सागर को तैरने के लिए आवश्यक है कि हम ज्ञान प्राप्त करके उसका समुचित प्रसार करें।

विशेष—सूक्त के प्रारम्भ में कहा है कि वासनाओं के नाश के द्वारा मैं अपने को प्रभु का कोपभाजन नहीं होने देता (१), मैं द्रोह से ऊपर उठता हूँ (२), असत्य से दूर होता हूँ और (३) इसप्रकार ज्ञान-प्रसार करता हुआ भवसागर से पार होता हूँ (४)। इसप्रकार की उत्तम वृत्ति होने पर हमारी सन्तान भी उत्तम बनती हैं—

११. [एकादशं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**पूषादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**पङ्क्तिः** ॥

पुरुष 'अर्यमा' हो, स्त्री 'ऋतप्रजाता'

वषट् ते पूषन्नस्मिन्त्सूतावर्यमा होता कृणोतु वेधाः।
सिस्रतां नार्यृतप्रजाता वि पर्वाणि जिहतां सूतवा उ॥ १॥

१. हे **पूषन्**=सबका पोषण करनेवाले प्रभो! **ते वषट्**=आपके लिए हम अपना अर्पण करते हैं। **अस्मिन् सूतौ**=इस सन्तानोत्पत्ति के कार्य में **अर्यमा**=(अरीन् यच्छति) काम-क्रोध आदि का विजेता, **होता**=दानपूर्वक अदन करने-(खाने)-वाला, यज्ञशेष का सेवन करनेवाला, **वेधाः**=बुद्धिपूर्वक कार्यों का करनेवाला व्यक्ति **कृणोतु**=साहाय्य करे। अर्यमा, होता व वेधा पुरुष की सन्तानें उत्तम तो होती ही हैं। इस पुरुष की सन्तानें उत्पन्न भी सुखपूर्वक होती हैं। २. **ऋतप्रजाता**=पूर्णतया ऋत के अनुसार सन्तानों को जन्म देनेवाली (ऋतेन प्रजाता) **नारी**=यह उन्नति-पथ पर चलनेवाली स्त्री **सिस्रताम्**=ठीक से गति करे। यह **सूतवा उ**=उत्पत्ति के लिए निश्चय से **पर्वाणि**=अङ्ग-सन्धियों को **विजिहताम्**=शिथिल करे। इसके अङ्गों में तनाव न हो, यह उन्हें ढीला छोड़नेवाली हो, जिससे सन्तान-उत्पत्ति सुविधा से हो सके। ३. गृहस्थ के पच्चीस वर्षों में अधिक-से-अधिक दस सन्तानों का विधान है। एवं, एक सन्तान के बाद दूसरी सन्तान में ढाई वर्ष का अन्तर आवश्यक है। कम-से-कम इतने अन्तर से सन्तानों को जन्म देनेवाली नारी ही 'ऋतप्रजाता' है। पुरुष कामादि को वश में करनेवाला, यज्ञशेष का सेवन करनेवाला तथा बुद्धिमत्ता से कार्यों को करनेवाला हो और नारी 'ऋतप्रजाता' हो तो सन्तान अवश्य सुख से होंगे। इस कार्य के लिए स्त्री के लिए भी आवश्यक है कि वह दैनिक कार्यक्रम को ठीक से करे और अङ्ग-पर्वों में तनाव उत्पन्न न होने दे। ४. पति-पत्नी के लिए प्रभु के प्रति अपना अर्पण करना तो आवश्यक है ही।

भावार्थ—सुख-प्रसव के लिए आवश्यक है कि (क) पति-पत्नी प्रभु के प्रति अपना समर्पण करनेवाले हों, (ख) पुरुष काम से अनभिभूत, यज्ञशेष का सेवी और बुद्धिमान् हो, (ग) नारी कम-से-कम ढाई वर्ष के अन्तर से सन्तान को जन्म देनेवाली हो। दैनिक कार्यक्रम में ठीक रहे। अङ्ग-पर्वों में तनाव उत्पन्न न होने दे।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**पूषादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**पङ्क्तिः** ॥

देवों का सम्पर्क व सुख-प्रसव

चतस्रो दिवः प्रदिशश्चतस्रो भूम्या उत। देवा गर्भं समैरयन्तां व्यूर्णुवन्तु सूतवे॥ २॥

१. **दिवः**=द्युलोक की **चतस्रः प्रदिशः**=चारों प्रकृष्ट दिशाएँ, **भूम्याः चतस्रः**=भूमि की चारों दिशाएँ **उत**=और **देवाः**=इन दिशाओं में स्थित सब देव **गर्भम्**=गर्भ को **सम् एरयन्**=सम्यक्तया उस-उस शक्ति को प्राप्त करानेवाले होते हैं। 'द्युलोक की चारों दिशाएँ तथा भूमि की चारों दिशाएँ' इस वाक्यांश (मुहावरे) का भाव यही है कि 'सारा ब्रह्माण्ड'। वस्तुतः यह शरीर-पिण्ड ब्रह्माण्ड का छोटा रूप होता है—'**यत् पिण्डे तद् ब्रह्माण्डे**'। इस पिण्ड में ब्रह्माण्ड के सूर्यादि देव अपनी-अपनी शक्ति प्राप्त कराते हैं। सूर्य ही 'चक्षु' का रूप धारण करके आँख में रहने लगता है, वायु 'प्राण' बनकर नासिका में, अग्नि 'वाक्' बनकर मुख में। इसीप्रकार भिन्न-भिन्न सब देव शरीर में वास करके शरीर को सशक्त बनाते हैं। गर्भिणी नारी इन देवों के सम्पर्क में रहती हुई गर्भस्थ सन्तान को इन सब देवों की शक्ति से युक्त करती हैं। २. अब ये सब देव

ताम्=उस गर्भस्थ सन्तान को **सूतवे**=सुख-प्रसव के लिए **वि ऊर्णुवन्तु**=गर्भ के आवरण से रहित करें, गर्भ के आच्छादन से बाहर लानेवाले हों। यहाँ यह स्पष्ट है कि जो स्त्री सूर्य-किरणों व वायु आदि के सम्पर्क में रहेगी, खुली दिशाओं में विहारशील होगी, वह सन्तान को सुख से जन्म देनेवाली होगी।

भावार्थ—सूर्यादि देवों का सम्पर्क सुख-प्रसूति में अत्यन्त सहायक है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**पूषादयो मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**चतुष्पदोष्णिग्गर्भा ककुम्मत्यनुष्टुप्**॥

सूषणा-बिष्कला

सूषा व्यूर्णोतु वि योनिं हापयामसि। श्रथया सूषणे त्वमव त्वं बिष्कले सृज॥ ३॥

१. **सूषा**=(सूषति, begets) सन्तान को जन्म देनेवाली यह माता **वि ऊर्णोतु**=आवरण को दूर हटानेवाली हो। **योनिम्**=योनि-प्रदेश को **विहापयामसि**=खुला करते हैं। योनिप्रदेश की संकीर्णता के कारण सुख-प्रसव में होनेवाली बाधा को दूर करते हैं। २. हे **सूषणे**=उत्तम सन्तान को जन्म देनेवाली जननि! **त्वम्**=तू **श्रथय**=प्रसन्न मनोवृत्तिवाली हो (to be glad)। सुख-प्रसव के लिए मानस प्रसाद की अत्यन्त आवश्यकता है। मन के विकास के साथ अन्य अङ्गों का भी विकास होता है और मन के मुरझाने के साथ अन्य अङ्गों का भी सङ्कोच। यह सङ्कोच सुख-प्रसव में बाधा बनता है। ३. हे **बिष्कले**=(बिष्कल to kill) विघ्नों को नष्ट करनेवाली अथवा (बिष्क् to see, perceive) सब स्थिति को ठीक रूप में देखनेवाली वीर स्त्रि! **त्वम्**=तू **अवसृज**=सब अङ्गों को शिथिल कर दे। उनमें किसी प्रकार का तनाव न रहने दे और इसप्रकार सुख से सन्तान को जन्म देनेवाली हो।

भावार्थ—सुख-प्रसव के लिए आवश्यक है कि (क) योनि-प्रदेश संकीर्ण न हो, (ख) माता प्रसन्न मनवाली हो और (ग) अङ्गों में किसी प्रकार का तनाव न हो।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**पूषादयो मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**पथ्यापङ्क्तिः**॥

पृश्नि-शेवलम् (छोटा-सा, सोये-सोये गति करनेवाला)

नेव मांसे न पीवसि नेव मज्जस्वाहतम्।
अवैतु पृश्नि शेवलं शुने जराय्वत्तवेऽव जरायु पद्यताम्॥ ४॥

१. **न इव मांसे**=न तो मांस में, **न पीवसि**=न ही चरबी में, **न इव मज्जसु**=और न ही मज्जा (marrow of the bones) में यह सन्तान किसी प्रकार से **आहतम्**=आहत हो। यह **पृश्निः**=छोटे-से परिमाण का (Dwarfish) कोमल (Delicate), **शेवलम्**=(शी+वल्) सोये-सोये गति करनेवाला गर्भस्थ सन्तान **अव एतु**=बाहर आ जाए। २. उसके शरीर का **जरायु**=आवृत करनेवाला जेर **शुने अत्तवे**=कुत्ते के खाने के लिए हो। अथवा यह **जरायु**=जेर **अवपद्यताम्**=पूर्णरूप से बाहर तो आ ही जाए। अन्दर रह गया इसका अंश माता के ज्वर आदि का कारण हो जाता है। ३. यहाँ गर्भस्थ बालक को **पृश्नि**=छोटा-सा कहा गया है। वह सोये-सोये ही शरीर के अन्दर के व्यापार कर रहा होता है, अतः 'शे-वल' है। यह गर्भस्थ बालक का सुन्दरतम चित्रण है। यह मांस, चर्बी व मज्जा आदि सब धातुओं में किसी भी प्रकार से हिंसित न हो। इसकी सब धातुएँ ठीक हों। आवरणभूत जरायु इसका ठीक रक्षण करे और सन्तान के बाहर आ जाने पर इस जरायु को कुत्ते आदि के लिए फेंक दिया जाए। जरायु का अंश अन्दर न रह जाए।

भावार्थ—गर्भस्थ बालक की सब धातुएँ ठीक हों। वह जरायु से सुरक्षित हुआ बाहर आ जाए और पूर्ण स्वस्थ हो। जरायु के ठीक बाहर आ जाने से माता भी पूर्ण स्वस्थ हो।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**पूषादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**पथ्यापङ्क्तिः** ॥

अङ्ग-विकास

वि ते॑ भिनद्मि॒ मेह॑नं॒ वि योनिं॒ वि ग॒वीनि॑के।
वि मा॒तरं॑ च पु॒त्रं च॒ वि कु॒मा॒रं ज॒रायु॒णाव॑ ज॒रायु॑ पद्यताम्॥ ५॥

१. हे मातः! **ते**=तेरे **मेहनम्**=गर्भ-मार्ग को **विभिनद्मि**=विशेषरूप से खुला करता हूँ। इसीप्रकार **योनिम्**=योनि को भी **वि**=खुला करता हूँ और **गवीनिके**=दोनों नाड़ियों को भी **वि**=खुला करता हूँ। इन सबके संकीर्ण न होने से सन्तान का सुख-प्रसव होता है। २. बाहर आने पर **मातरं च पुत्रं च**=माता व पुत्र को **वि**=अलग-अलग करते हैं। उन्हें जोड़नेवाली नाड़ी को काटकर उनके पृथक् जीवन का आरम्भ करते हैं। आज तक माता ही खाती थी, उसकी रस आदि धातुएँ बनकर बच्चे को उस नाड़ी से प्राप्त हो जाती थीं। अब बच्चा स्वयं खाएगा और स्वतन्त्ररूपेण शरीर-धातुओं को उत्पन्न करेगा। ३. **कुमारं जरायुणा वि**=इस उत्पन्न कुमार को जरायु से पृथक् करते हैं। अब यह आवरण उसके लिए अनावश्यक हो गया है, अतः यह **जरायु**=जेर **अवपद्यताम्**=नीचे गिर जाए—बच्चे के शरीर से पृथक् हो जाए।

भावार्थ—सब मार्गों के ठीक विकास से ही सुख-प्रसव सम्भव होता है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**पूषादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**पथ्यापङ्क्तिः** ॥

दशमास्य

यथा॒ वातो॒ यथा॒ मनो॒ यथा॒ पत॑न्ति प॒क्षिणः॑।
ए॒वा त्वं द॑शमास्य सा॒कं ज॒रायु॑णा प॒ताव॑ ज॒रायु॑ पद्यताम्॥ ६॥

१. **यथा**=जैसे **वातः**=वायुः [पतति] सहज स्वभाव से चलती है, **यथा मनः**=जैसे मन तीव्र गतिवाला होता है, **यथा**=जैसे **पक्षिणः**=पक्षी **पतन्ति**=दोनों पङ्खों से गति करते हैं, **एव**=उसी प्रकार हे **दशमास्य**=दस मास की अवस्थावाले गर्भ से बाहर आनेवाले बालक! **त्वम्**=तू **जरायुणा साकम्**=जेर के साथ **पत**=गतिवाला हो, गर्भ से बाहर आ और **जरायु**=यह जेर **अवपद्यताम्**=तुझसे पृथक् हो जाए। २. वायु की सहज गति की भाँति गर्भ सहज गति से बाहर आनेवाला हो। मन की शीघ्र गति की भाँति बाहर आने की क्रिया में तनिक भी विलम्ब न हो। पक्षियों के दोनों पङ्खों की गति की भाँति इस उत्पन्न बालक के अवर व पर—दोनों गात्र ठीक हों। इसकी ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ ठीक प्रकार से कार्य करनेवाली हों।

भावार्थ—सन्तान के प्रसव का ठीक समय वही है जब वह दशमास्य होता है। यह दशमास्य दशम दशक तक—शतवर्षपर्यन्त जीनेवाला होता है।

विशेष—सूक्त के आरम्भिक मन्त्र में कहा है कि पुरुष 'अर्यमा, होता व वेधा' हो, स्त्री ऋत-प्रजाता हो तो सन्तान सुख से प्रसूत होती है (१)। सुख-प्रसव के लिए देवों के सम्पर्क में रहना आवश्यक है (२)। माता को प्रसन्न मनवाला होना चाहिए (३), तभी बालक की सब धातुएँ भी ठीक बनेंगी (४)। माता के गर्भाङ्गों का ठीक विकास सुख-प्रसूति के लिए आवश्यक है (५)। ऐसा होने पर यह दस मास का बालक सुखपूर्वक गति करता हुआ बाहर आ जाता है (६)। जिस प्रकार जरायु के आवरण से निकलकर बालक प्रकट होता है, उसी प्रकार मेघों के आवरण से निकलकर सूर्य चमक उठता है। सूर्य भी मानो जरायुज है—

१२. [द्वादशं सूक्तम्]

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**यक्षमनाशनम्** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

वात व वृष्टि का कारणभूत 'सूर्य'

जरायुजः प्रथम उस्त्रियो वृषा वातभ्रजा स्तनयन्नेति वृष्ट्या।
स नो मृडाति तन्व ऋजुगो रुजन्य एकमोजस्त्रेधा विचक्रमे॥ १॥

१. **जरायुजः प्रथमः**=(जरायु Womb) पृथिवी के गर्भ से सबसे प्रथम उत्पन्न होनेवाला। सूर्य ही तो प्रथम उत्पन्न होता है, उसी का कुछ अंश टूटकर पृथिवी रूप हो गया हैं। यह सूर्य **उस्त्रियः**=(उस्त्रिया अस्य अस्ति) चमक और प्रकाशमय किरणोंवाला, **वृषा**=वृष्टि का कारणभूत **वातभ्रजाः**=वायु व अभ्रों (मेघों) को जन्म देनेवाला है। सूर्य की उष्णता से भूमिपृष्ठ गरम होता है। इस गर्मी से वहाँ की वायु गरम होकर फैलती है और हल्की होकर ऊपर उठती है। उसका स्थान लेने के लिए समुद्र की ओर से वायु स्थल की ओर आने लगती है। इसप्रकार वायु में गति होती है। इस गति का कारण सूर्य ही है। जलों के वाष्पीकरण के द्वारा मेघों का निर्माण भी सूर्य से ही होता है। २. यह सूर्य **स्तनयन्**=विद्युत् के रूप में गर्जना करता हुआ **वृष्ट्या**=वृष्टि के साथ **एति**=आता है। द्युलोक में प्रभु का जो ओज सूर्यरूप में प्रकट हो रहा है, वही अन्तरिक्ष में विद्युत् के रूप में और पृथिवी पर अग्नि के रूप में प्रकट होता है। एवं विद्युत् के रूप में सूर्यवाला ओज ही गर्जना कर रहा होता है। ३. **सः**=यह सूर्य **नः तन्वे**=हमारे शरीर के लिए **मृडाति**=सुख उत्पन्न करता है। **ऋजुगः**=यह सरल मार्ग से चलता है और **रुजन्**=हमारे शरीर के दोषों को नष्ट करता हुआ अपने मार्ग पर जाता है। सूर्य की किरणें शरीर के दोषों को नष्ट करती ही हैं। यह सूर्य वह है **यः**=जोकि **एकम् ओजः**=एक ही ओज को **त्रेधा**=तीन प्रकार से **वि चक्रमे**=विक्रान्त करता है—(क) इसके ओज से सर्वत्र प्राणशक्ति का सञ्चार होता है, (ख) अन्धकार दूर होता है, सर्वत्र प्रकाश फैलता है तथा (ग) वसन्त आदि ऋतुभेद व सम्पूर्ण काल-व्यवहार का यह कारण बनता है। 'प्राणशक्ति का सञ्चार, प्रकाश का विस्तार व काल का निर्माण'—ये तीन कार्य इस सूर्य के ओज से हो रहे हैं।

भावार्थ—सूर्य वात व वृष्टि का कारण है। वह रोगों को दूर करता है।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**यक्षमनाशनम्** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

सूर्य-नमस्कार

अङ्गेअङ्गे शोचिषा शिश्रियाणं नमस्यन्तस्त्वा हविषा विधेम।
अङ्कान्त्समङ्कान्हविषा विधेम यो अग्रभीत्पर्वास्या ग्रभीता॥ २॥

१. हे सूर्य! **अङ्गेअङ्गे**=एक-एक अङ्ग में **शोचिषा**=दीप्ति से **शिश्रियाणम्**=आश्रय करते हुए **त्वा**=तुझे **नमस्यन्तः**=नमस्कार करते हुए हम **हविषा**=दानपूर्वक अदन (भक्षण) से अथवा अग्निहोत्र से **विधेम**=(विध्=to pierce, to cut) रोगों को कोटनेवाले बनें तथा (ग) हवि का सेवन करें—प्रातः-सायं घर पर अग्निहोत्र करें तथा यज्ञशेष का ही सेवन करें। ये तीन बातें हमें अवश्य ही रोगों से मुक्त करेंगी। २. हम **हविषा**=हवि के द्वारा, अग्निहोत्र के द्वारा तथा यज्ञशेष के सेवन द्वारा **अङ्कान्**=लक्षणों को **समङ्कान्**=उत्तम लक्षण **विधेम**=बनाएँ। 'अङ्क' शब्द का अर्थ शरीर (Body) भी है। हम हवि के द्वारा शरीरों को उत्तम बनाएँ और **यः**=जो **ग्रभीता**=पकड़ लेनेवाला रोग **अस्य**=इसके **पर्व**=जोड़ों को **अग्रभीत्**=जकड़ बैठा है, उस रोग को भी हवि के द्वारा काटनेवाले हों। ऋग्वेद [१०।१६१।१] में **'ग्राहिर्जग्रह यदि वैतदेनम्'** इन शब्दों से इस भाव

को कहा गया है।

भावार्थ—सूर्य-नमस्कार व्यायाम करते हुए सूर्य-दीप्ति को अपने शरीर पर लेते हुए तथा अग्निहोत्र के द्वारा और भोजन में यज्ञशेष के सेवन से रोग कट जाते हैं, शरीर सुलक्षणोंवाला बनता है और वात-पीड़ाएँ दूर हो जाती हैं।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**यक्ष्मनाशनम्** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

सिरदर्द, खाँसी व सन्धिपीड़ा से छुटकारा

मुञ्च शीर्षक्त्या उत कास एनं परुष्परुराविवेशा यो अस्य।
यो अभ्रजा वातजा यश्च शुष्मो वनस्पतीन्त्सचतां पर्वतांश्च॥ ३॥

१. हे सूर्य! **एनम्**=गतमन्त्र के अनुसार सूर्य-नमस्कार करनेवाले व हवि का सेवन करनेवाले पुरुष को **शीर्षक्त्याः**=सिरदर्द से **मुञ्च**=मुक्त कर, **उत**=और **यः कासः**=जो खाँसी व **अस्य परुष्परुः**=इसके प्रत्येक जोड़ में पीड़ा के रूप में रोग **आविवेश**=प्रविष्ट हो गया है, उस रोग से इसे मुक्त कर। २. **यः**=जो **अभ्रजाः**=बादलों से होनेवाला—इन बादलों व वृष्टि से उत्पन्न सीलवाली वायु से होनेवाला कफ़ का रोग है, **वातजः**=वायु से होनेवाला रोग है, **यः च**=और जो **शुष्मः**=पैत्तिक विकार के कारण अङ्गों के शोषण का कारणभूत रोग है—उस सबको हे सूर्य! तू दूर करनेवाला है। ३. इन रोगों के होने पर यह रोगी **वनस्पतीन् सचताम्**=विविध वनस्पतियों का सेवन करनेवाला हो **च**=और आवश्यक होने पर **पर्वतान्**=पर्वतों का सेवन करे। पर्वतों का जलवायु पैत्तिक विकारों में विशेषरूप से लाभकारी होता है।

भावार्थ—सूर्य-किरणों का सेवन 'सिरदर्द, खाँसी व सन्धिपीड़ाओं' से मुक्त करता है और वनस्पतियों व पर्वत-वायु का सेवन मनुष्य को कफ़, वात व पित्त के विकारों से बचाता है।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**यक्ष्मनाशनम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

चारों अङ्गों में शान्ति

शं मे परस्मै गात्राय शमस्त्ववराय मे।
शं मे चतुर्भ्यो अङ्गेभ्यः शमस्तु तन्वे३ मम॥ ४॥

१. **मे**=मेरे **परस्मै गात्राय**=शरीर के ऊपर के अङ्गों के लिए **शम्**=शान्ति **अस्तु**=हो। **मे**=मेरे **अवराय**=शरीर के निचले अङ्गों के लिए भी **शम् अस्तु**=शान्ति हो। सूर्य-किरणों का सेवन मेरे एक-एक अङ्ग को नीरोग व शान्त बनाए। सूर्य-किरणों का सेवन शरीर के उपद्रवों को दूर करनेवाला हो। २. **मे**=मेरे **चतुर्भ्यः**=चारों **अङ्गेभ्यः**=अङ्गों के लिए **शम् अस्तु**=शान्ति हो। 'सिर, छाती, उदर व टाँगे'—स्थूलतया ये शरीर के चार अङ्ग हैं। समाज-शरीर में ये ही 'ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य व शूद्र' कहलाते हैं। मेरे ये चारों ही अङ्ग शान्त व निरुपद्रव हों। इनके ठीक होने पर ही **मम तन्वे शम्**=मेरा सम्पूर्ण शरीर नीरोग, स्वस्थ और शान्त हो।

भावार्थ—सूर्य-किरणों का सेवन शरीर के सब अङ्गों को शान्त और निरुपद्रव बनाता है।

विशेष—सूक्त के प्रथम मन्त्र में सूर्य को रोगों को नष्ट करनेवाला कहा है (१)। यह रोगों को काट देता है (२)। सिरदर्द, खाँसी व सन्धिपीड़ा से मुक्त करता है (३)। शरीर के चारों अङ्गों को शान्त रखता है। इन सूर्य-किरणों का व हवि का ही सेवन करनेवाला यह व्यक्ति भृगु है, 'भ्रस्ज पाके' अपनी शक्तियों का ठीक से परिपाक करता है और अपने सब अङ्गों को नीरोग बनाकर 'अङ्गिरस' बनता है—एक-एक अङ्ग में रसवाला—लोच व लचकवाला। यह 'भृगु-अङ्गिराः' ही १२ से १४ तक के सूक्तों का ऋषि है। १३वें सूक्त में यह ईश्वर के प्रति

नमन करता हुआ प्रार्थना करता है कि—

१३. [त्रयोदशं सूक्तम्]

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**विद्युत्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

विद्युत्, स्तनयित्नु व अश्मा

नम॑स्ते अस्तु वि॒द्यु॒ते नम॑स्ते स्तनयि॒त्नवे॑। नम॑स्ते अ॒स्त्वश्म॑ने॒ येना॑ दू॒डाशे॒ अस्य॑सि ॥ १ ॥

१. हे प्रभो! **विद्युते ते नमः अस्तु**=वृष्टिकाल में विद्युत् के रूप में चमकते हुए आपके लिए नमस्कार हो। **स्तनयित्नवे**=मेघों में गर्जना के रूप में शब्द करते हुए **ते नमः**=आपके लिए हम नतमस्तक हों। **अश्मने ते**=बीच-बीच में ओलों के रूप में बरसनेवाले आपके लिए **नमः अस्तु**=हमारा नमस्कार हो। २. हम आपको नमस्कार करते हैं **येन**=क्योंकि **दूडाशे**=(दाश्नोति to kill) बुरी तरह से हमारा नाश करनेवाली काम-क्रोधादि वृत्तियों को आप हमसे **अस्यति**=परे फेंकते हो (दूडाश के द्विवचन का यहाँ प्रयोग है)। काम-क्रोधादि वृत्तियाँ हमारा नाश करती हैं। **'तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ'**। प्रभु का स्मरण इन वृत्तियों को नष्ट करता है और इसप्रकार हमारा कल्याण करता है।

भावार्थ—विद्युत्, स्तनयित्नु व अश्मा में प्रभु की ही शक्ति कार्य कर रही है। यह प्रभुशक्ति ही हमारे काम-क्रोध का भी नाश करके हमारा रक्षण करती है।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**विद्युत्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

तप व उन्नति

नम॑स्ते प्रवतो नपा॒द्यत॒स्तपः॑ स॒मूह॑सि। मृ॒डया॑ नस्त॒नूभ्यो॒ मय॑स्तो॒केभ्य॑स्कृधि ॥ २ ॥

१. **प्रवतः नपात्**=उच्चता से न गिरने देनेवाले हे प्रभो! **ते नमः**=हम आपके लिए नमस्कार करते हैं। आप उच्चता से न गिरने देनेवाले इसलिए हैं, **यतः**=क्योंकि **तपः समूहसि**=आप तप का सञ्चय करते हैं। तप ही सम्पूर्ण उत्थान का मूल है। तप का विपरीत पत=पतन है। प्रभु तपःरूप हैं, अतः पूर्ण उन्नत हैं। प्रभुकृपा से हम भी तपस्वी बनते हैं और उन्नत हो पाते हैं। उन्नति तप के अनुपात में ही होती है। २. हे प्रभो! आप इस तप के द्वारा **नः**=हमारे **तनूभ्यः**=शरीरों के लिए **मृडय**=सुख देनेवाले होवें। इस तपस्या के परिणामस्वरूप हमारे शरीरों में किसी प्रकार का रोग न हो। हमें नीरोग बनाकर आप **तोकेभ्यः**=हमारे सन्तानों के लिए भी **मयः**=कल्याण **कृधि**=कीजिए। हमारे स्वस्थ शरीरों से हमारे सन्तानों के शरीर भी स्वस्थ हों।

भावार्थ—उच्चता तपोमूलक है। तप से ही हमारे शरीर भी स्वस्थ होते हैं, परिणामतः सन्तानों का भी कल्याण होता है।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**विद्युत्** ॥ छन्दः—**चतष्पाद्विराड्जगती** ॥

प्रेरणा व तपस्या

प्रव॑तो नपा॒न्नम॑ ए॒वास्तु॒ तुभ्य॒ं नम॑स्ते हे॒तये॒ तपु॑षे च कृण्मः।
वि॒द्म ते॒ धाम॑ पर॒मं गुहा॒ यत्स॑मु॒द्रे अ॒न्तर्निहि॑ता॒सि॒ नाभि॑ः ॥ ३ ॥

१. **प्रवतो नपात्**=उच्च स्थान से न गिरने देनेवाले प्रभो! **तुभ्यम्**=आपके लिए **नमः एव अस्तु**=हमारा नमस्कार हो। **ते**=आपकी **हेतये**=प्रेरणा के लिए **च**=तथा **तपुषे**=तपस्या के लिए **नमः कृण्मः**=हम नमस्कार करते हैं। हम आपकी प्रेरणा (हि=प्रेरणे) को सुनते हैं और जीवन में तपस्या को नष्ट नहीं होने देते तो हम उन्नत-ही-उन्नत होते हैं, किसी प्रकार से हमारी अवनति नहीं होती। इसलिए यह प्रेरणा और तपस्या—दोनों ही वस्तुतः आदरणीय हैं। २. इस प्रेरणा के

सुनने व तपस्या को अपनाने से ही हम **ते**=आपके **परमं धाम्**=उत्कृष्ट तेज को **विद्म**=जान पाते हैं। **यत्**=जो उत्कृष्ट तेज मलिन अन्तःकरणों में द्रष्टव्य नहीं होता। ३. आप **नाभिः**=(णह बन्धने) इस ब्रह्माण्ड के सब लोक-लोकान्तरों को अपने में बाँधनेवाले हैं **'मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव'**। आप सूत्रों-के-सूत्र हैं। ये सब लोक आपमें ही ओत-प्रोत हैं। ऐसे आप **समुद्रे**=(स-मुद्) प्रसाद से युक्त अन्तःकरण के **अन्तः**=अन्दर **निहिता असि**=स्थापित हैं। आपका दर्शन निर्मल व प्रसन्न हृदय में ही होता है। प्रसन्न मनवाले लोग ही आपके निवास-स्थान हैं।

भावार्थ—हम प्रभु की प्रेरणा को सुनें व तपस्वी बनें। यही प्रभु-दर्शन का मार्ग है।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**विद्युत्** ॥ छन्दः—**चतष्पाद्विराड्जगती** ॥

दिव्य इषु

यां त्वा॑ दे॒वा असृ॑जन्त॒ विश्व॒ इषुं॑ कृण्वा॒ना अस॑नाय धृ॒ष्णुम्।
सा नो॑ मृड वि॒दथे॑ गृणा॒ना तस्यै॑ ते॒ नमो॑ अस्तु देवि॥ ४॥

१. हे **देवि**=प्रभु की दिव्यशक्ते! **तस्यै ते नमः अस्तु**=उस तेरे लिए नमस्कार हो, **याम्**=जिस तुझे **विश्वेदेवाः**=सब देव **धृष्णुम्**=धर्षक शत्रु को—काम-क्रोध आदि पराभूत करनेवाले शत्रुओं को **असनाय**=परे फेंकने के लिए **इषुं कृण्वाणाः**=बाण के रूप में करते हुए **असृजन्त**=उत्पन्न करते हैं। मनुष्य के लिए काम-क्रोध आदि को जीतना सम्भव नहीं। उस समय देववृत्ति के लोग परमेश्वर की दैवी शक्ति को अपना इषु (बाण) बनाते हैं। इस इषु से काम का पराजय होता है। प्रभु-स्मरण काम का विध्वंस करता है। २. **सा**=वह ईश्वरीय शक्ति **विदथे गृणाना**=ज्ञानयज्ञों में स्तुति की जाती हुई **नः मृड**=हमारे लिए सुख करनेवाली हो। 'विदथ' शब्द युद्ध के लिए भी प्रयुक्त होता है। यह शक्ति काम आदि के साथ युद्ध के प्रसंग में हमारा कल्याण करनेवाली हो।

भावार्थ—प्रभु की दिव्य शक्ति कामादि के साथ युद्ध में हमारा इषु बनती है और काम का विध्वंस करती है।

विशेष—प्रभु की शक्ति ही सर्वत्र कार्य करती है (१)। तप उस शक्ति को प्राप्त करने का साधन है (२)। तप और प्रभु-प्रेरणा को सुनना ही प्रभु-दर्शन के मार्ग हैं (३)। प्रभु की दिव्य शक्ति इषु बनकर हमारे लिए काम का विध्वंस करती है (४)। इन तपस्वी कुलों में ही कुलवधुओं का जन्म होता है—

१४. [चतुर्दशं सूक्तम्]

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**यमः** ॥ छन्दः—**ककुम्मत्यनुष्टुप्** ॥

कुलवधू के मुख्य गुण 'भगं, वर्चः'

भग॑मस्या॒ वर्च॒ आदि॒ष्यधि॑ वृ॒क्षादि॑व॒ स्रज॑म्। म॒हाबु॑ध्नइव॒ पर्व॑तो॒ ज्योक्पि॒तृष्वा॑स्ताम्॥ १॥

१. वैदिक पद्धति में एक युवक अपनी जीवन-यात्रा की निर्विघ्न पूर्ति के लिए अपना एक साथी चुनता है। वह वरणीय कन्या में दो गुणों को महत्त्व देता है। वे गुण हैं—**'भगं, वर्चः'**। वह कहता है कि मैं **अस्याः**=इस कन्या के **भगम्**=अन्तः व बाह्य सौन्दर्य (Exellence, Beauty) को तथा **वर्चः**=तेजिस्वता को **आदिषि**=आदर से देखता हूँ (Pay a tribute to) और **वृक्षात् अधि स्रजम् इव**=वृक्ष से जैसे माला को ग्रहण करते हैं, पुष्पों को लेकर माला बनाते हैं, इसीप्रकार इस कन्या के पितृकुलरूप वृक्ष से गुणरूपी माला से अलंकृत इस कन्या का ग्रहण करता हूँ।

२. **महाबुध्नः पर्वतः इव**=जैसे विशाल मूलवाला पर्वत स्थिरता से एक स्थान में रहता है, उसी प्रकार यह कन्या **ज्योक्**=दीर्घकाल तक **पितृषु**=माता-पिता के समीप **आस्ताम्**=निवास करे। यहाँ 'माता-पिता के साथ देर तक रहना' उसके बड़ी अवस्था में विवाह का सङ्केत करता है, तथा 'घर में पर्वत के समान स्थिरता से रहना' उसके व्यर्थ इधर-उधर न घूमने व सच्चरित्रता को व्यक्त करता है।

भावार्थ—विवह के योग्य कन्या 'भग व वर्च' वाली है, बड़ी अवस्थावाली व युवति है, घर में स्थिरता से रहनेवाली अचपल है।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**यमः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

वर के मुख्य गुण 'नियमितता, संयम'

एषा ते राजन्कन्या वधूर्नि धूयतां यम।
सा मातुर्बध्यतां गृहे ऽथो भ्रातुरथो पितुः ॥ २ ॥

१. युवक के प्रस्ताव करने पर कन्या के माता-पिता सब विचार करते हैं और विचार के पश्चात् प्रस्ताव की स्वीकृति देते हुए कहते हैं कि हे **राजन्**=भौतिक क्रियाओं (खान-पान, सोना-जागना) आदि में अत्यन्त नियमित जीवनवाले, समय पर इन सब कार्यों को करनेवाले **यम**=संयमी जीवनवाले युवक! **एषा कन्या**=यह अपने गुणों व तेज से चमकनेवाली **वधूः**=सब कार्यभार का वहन करनेवाली हमारी सन्तान **ते**=तेरे लिए **निधूयताम्**=हमारे घर से तेरे घर में भेज दी जाए (Remove)। युवक की द्रष्टव्य विशेषताएँ 'राजन् व यम' शब्दों से स्पष्ट हैं। वह युवक भोजन आदि की क्रियाओं में बड़ा नियमित हो और संयमी जीवनवाला हो। युवति भी तेज से चमके; रुधिर-अभाव से पिङ्गला-सी न हो तथा गृहकार्य वहन करनेवाली हो। २. **सा**=वह कन्या विवाहित होने के पश्चात् **मातुः गृहे बध्यताम्**=माता के घर में सम्बन्धवाली हो, अर्थात् जब वह पतिगृह से कहीं अन्यत्र जाए तो नाना के घर में जाए **अथो**=और **भ्रातुः**=अपने भाई के घर में जाए **अथो**=और **पितुः**=अपने पिताजी के घर में जाए। अन्य सम्बन्धियों के घरों में आने-जाने से कई बार व्यर्थ के कलह उठ खड़े होते हैं। इधर-उधर कम जाने से सम्बन्ध मधुर बने रहते हैं। एवं, कन्या की शोभा इसी में है कि वह नाना, दादा (पिता) व भाई के घर में ही अधिकतर जानेवाली हो।

भावार्थ—युवक नियमित जीवनवाला व संयमी हो। युवति तेजोदीप्त व गृहकार्य वहन करने में सक्षम हो।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**यमः** ॥ छन्दः—**चतुष्पदाविराडनुष्टुप्** ॥

विवाह का उद्देश्य

एषा ते कुलपा राजन्तामु ते परि दद्मसि। ज्योक्पितृष्वासाता आ शीर्ष्णः समोप्यात् ॥ ३ ॥

१. हे **राजन्**=नियमित जीवनवाले युवक! **एषा**=यह वधू **ते**=तेरे **कुलपा**=कुल का रक्षण करनेवाली हो, तुझसे सन्तान को जन्म देकर तेरे कुल का विच्छेद न होने देनेवाली हो। **ताम्**=उसे हम **उ**=निश्चय से **ते**=तेरे लिए **परि दद्मसि**=देते हैं। २. यह कन्या वह है जोकि **आ शीर्ष्णः समोप्यात्**=(सम् आ वप्) सिर में, मस्तिष्क में ज्ञान के सम्यक् वपन के समय तक **ज्योक्**=देर तक **पितृषु आसाता**=माता-पिता व आचार्य के समीप रही है। 'पितृषु' यह बहुवचन शब्द आचार्य-सान्निध्य का भी सङ्केत कर रहा है। ज्ञान देने से आचार्य भी पिता ही है।

भावार्थ—विवाह का प्रमुख उद्देश्य वंश का उच्छेद न होने देना ही है, अतः गृहस्थ एक

अत्यन्त पवित्र आश्रम है। मस्तिष्क को ज्ञान से अलंकृत करने के पश्चात् ही एक युवति इसमें प्रवेश करती है।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**यमः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

पत्नी 'अन्तः कोश'-सी

असितस्य ते ब्रह्मणा कश्यपस्य गयस्य च।
अन्तःकोशमिव जामयोऽपि नह्यामि ते भगम्॥ ४॥

१. **असितस्य ते**=विषयों से अबद्ध जो तू **ब्रह्मणा**=ज्ञान के द्वारा **कश्यपस्य**=(पश्यकस्य) वस्तुओं को ठीक रूप में देखनेवाला जो तू, वस्तुतः विषयों की आपात रमणीयता से तू इसीलिए तो मोहित नहीं हुआ कि तूने उन्हें ठीक रूप में देखा है, **गयस्य च**=प्राणशक्ति से सम्पन्न जो तू है, उस तेरे लिए **जामयः**=पत्नी **अन्तः कोशम् इव**=आध्यात्मिक सम्पत्ति के समान हैं। विषयों से अबद्ध, ज्ञान के कारण तात्त्विक दृष्टिवाला, प्राणसाधक पुरुष पत्नी को अपनी आध्यात्मिक सम्पत्ति के रूप में देखता है। वह पत्नी में एक मित्र को पाता है, जो उसे पतन से बचाकर उत्थान की ओर ले-जानेवाली होती है। वैषयिक, अतात्त्विक दृष्टिवाले, प्राणशक्ति के महत्त्व को न समझनेवाले पुरुष के लिए यह स्त्री ही नरक का द्वार हो जाती है। २. कन्या का पिता कहता है कि हम अपनी कन्या को तुम्हारे लिए क्या देते हैं **ते भगम्**=तुम्हारा ऐश्वर्य **अपि नह्यामि**=तुम्हारे साथ जोड़ते हैं।

भावार्थ—पति 'असित, कश्यप व गय' होता है तो पत्नी उसके लिए 'अन्तःकोश' के समान होती है।

विशेष—कुलवधू 'भग व वर्च' वाली हो (१)। वर नियमित जीवनवाला व संयमी हो (२)। वह विवाह का मूलोद्देश्य वंश-अविच्छेद ही समझे (३)। अवैषयिक, तात्त्विक-दृष्टिवाले, प्राणसाधक पुरुष के लिए पत्नी 'अन्तःकोश'-सी है (४)। इसप्रकार के घरों में ही प्रेम और मेल बना रहता है। यह प्रेम सामाजिक सङ्गठन के रूप में व्यक्त होता है—

१५. [पञ्चदशं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**सिन्ध्वादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**भुरिग्बृहती** ॥

सङ्गठन यज्ञ में आहुति

सं सं स्रवन्तु सिन्धवः सं वाताः सं पतत्रिणः।
इमं यज्ञं प्रदिवो मे जुषन्तां संस्राव्ये ॅण हविषा जुहोमि॥ १॥

१. **सिन्धवः**=नदियाँ **सम्**=मिलकर **संस्रवन्तु**=उत्तमता से बहती रहें। छोटे-छोटे स्रोत अलग-अलग ही बहते रहें तो वे शीघ्र ही सूख जाएँगे और उनमें किसी प्रकार की शक्ति भी नहीं दीखती। ये स्रोत मिलकर एक प्रबल वेगवाली नदी के रूप में बहते हैं और मार्ग में आये वृक्ष आदि को उखाड़कर आगे बढ़ते जाते हैं। २. इसीप्रकार **वाताः**=वायुएँ भी **सम्**=मिलकर ही प्रबल वेगवाली हो जाती हैं। वायुवेग भी अलग-अलग होकर बहना चाहें तो वे शायद पत्तों को भी न हिला सकें। ३. **पतत्रिणः**=पक्षी भी **सम्**=मिलकर ही शक्ति-सम्पन्न बनते हैं। एक टिड्डी का कोई अर्थ ही नहीं, परन्तु टिड्डीदल अत्यन्त भयङ्कर रूप धारण कर लेता है। ४. प्रभु कहते हैं कि—**मे**=मेरे **इमम्**=इस **यज्ञम्**=सङ्गठन के भाव को (यज्=सङ्गतिकरण) **प्रदिवः**=प्रकृष्ट ज्ञानी पुरुष **जुषन्ताम्**=प्रीतिपूर्वक सेवित करें। ज्ञानी सङ्गठन के महत्त्व को समझते हैं और वे मिलकर ही चलते हैं। अज्ञान व मूर्खता में सब अपने ही स्वार्थ को देखते हैं, परिणामतः वहाँ

सङ्गठन नहीं हो पाता। ५. एक ज्ञानी पुरुष निश्चय करता है कि **संस्राव्येन**=मिलकर चलने के लिए—सङ्गठन के लिए हितकर **हविषा**=दान की वृत्ति से **जुहोमि**=मैं अपनी आय के अंश को आहुति के रूप में देता हूँ। यह अंश कर व दान के रूप में दिया जाकर सङ्गठन को दृढ़ बनानेवाला होता है।

भावार्थ—नदियाँ, वायुएँ व पक्षिगण सङ्गठन के महत्त्व को व्यक्त कर रहे हैं। हम सङ्गठन-यज्ञ में अवश्य आहुति देनेवाले हों।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**सिन्ध्वादयो मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**भुरिक्पथ्यापङ्क्तिः**॥

पशुभाव का नाश

इहैव हवमा यात म इह संस्रावणा उतेमं वर्धयता गिरः।
इहैतु सर्वो यः पशुरस्मिन्तिष्ठतु या रयिः॥ २॥

१. सङ्गठन का प्रधान कहता है कि **इह**=यहाँ **मे हवम्**=मेरी पुकार होने पर **आयात एव**=आओ ही, **उत**=और यहाँ सभास्थल में आकर हे **संस्रावणाः गिरः**=सङ्गठन करनेवाले प्रचारको! **इमम् वर्धयत**=इस सङ्गठन को बढ़ाओ, अर्थात् सङ्गठन के महत्त्व को लोगों के हृदयों पर अङ्कित करके उनमें सङ्गठन की भावना भर दो। २. तुम्हारी इन वाणियों के परिणामस्वरूप **यः पशुः**=जो पाशविक भावना है, स्वार्थ के कारण अलग-अलग रहने की भावना है, वह **सर्वः**=सभी **इह एतु**=यहाँ सभास्थल पर आये और वह यहीं रह जाए, वह यहीं यज्ञाग्नि में भस्म हो जाए और **अस्मिन्**=इन उपस्थित लोगों में **यः रयिः**=जो धन है, धन्य बनानेवाली उत्तम भावना है, वही **तिष्ठतु**=रहे।

भावार्थ—लोग सङ्गठन-यज्ञ के लिए होनेवाली सभाओं में एकत्र हों। वहाँ प्रमुख वक्ताओं के भाषणों से प्रभावित होकर पशुभाव को दूर करें और एकता के भाव से अपने को धन्य बनाएँ।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**सिन्ध्वादयो मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

सङ्गठन व धन

ये नदीनां संस्रवन्त्युत्सासः सदमक्षिताः।
तेभिर्मे सर्वैः संस्रावैर्धनं सं स्रावयामसि॥ ३॥

१. **ये**=जो **नदीनाम्**=नदियों के **उत्सासः**=प्रवाह **अक्षिताः**=सङ्गठन के कारण अक्षीण हुए-हुए **सदम् संस्रवन्ति**=सदा बहते हैं, प्रभु कहते हैं कि **मे**=मेरे **तेभिः सर्वैः संस्रावैः**=उन सब सम्मिलित प्रवाहों से **धनं सं स्रावयामसि**=धन को प्राप्त कराते हैं। २. सदा बहनेवाली नदियाँ (क) नावों के लिए उपयुक्त मार्ग बनकर व्यापारिक सुविधा उपस्थित करती हैं, इस व्यापार के द्वारा धनवृद्धि होती है, (ख) इनके जलों को बाँध आदि से रोककर विद्युत् उत्पन्न करने की व्यवस्था होती है। वह विविध यन्त्रों के चालन द्वारा धनवृद्धि का कारण होती है, (ग) सदा प्रवाहित होनेवाली नदियाँ नहरों के द्वारा सिंचाई के लिए भी सहायक होती हैं। ३. ये नदियों के प्रवाह अलग-अलग बहते रहें तो न नावें चलतीं, न विद्युत् उत्पन्न होती और न इससे नहरें निकल पातीं।

भावार्थ—सम्मिलित रूप में बहनेवाली नदियों के प्रवाह नावों के मार्ग बनकर विद्युदुत्पादन में सहायक होकर तथा नहरों द्वारा सिंचाई का साधन बनकर धनवृद्धि का कारण होती हैं।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**सिन्ध्वादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

घी, दूध की नदियाँ

ये सर्पिषः संस्रवन्ति क्षीरस्य चोदकस्य च।
तेभिर्मे सर्वैः संस्रावैर्धनं सं स्रावयामसि॥ ४॥

१. **ये**=जो **सर्पिषः संस्रवन्ति**=घृत के प्रवाह मिलकर चलते हैं। एक-एक बूँद ने क्या बहना? इसीप्रकार **क्षीरस्य च**=जो दूध के प्रवाह बहते हैं और **उदकस्य च**=पानी के प्रवाह भी बहते हैं, इनमें भी एक-एक बूँद को तो नष्ट ही हो जाना था। इसप्रकार **मे**=मेरे **तेभिः सर्वैः संस्रावैः**=उन सब मिलकर बहनेवाले प्रवाहों से **धनम्**=धन को **संस्रावयामसि**=संस्रुत करते हैं। २. एक घर को 'घृत, दुग्ध व जल' के प्रवाह ही धन्य बनाते हैं। घर वही उत्तम है, जहाँ इन वस्तुओं की कमी न हो। इनकी कमी न होने पर मनुष्य सबल, स्वस्थ व सुन्दर शरीरवाला बनकर धनार्जन के योग्य बनता है। २. यहाँ प्रसङ्गवश यह सङ्केत भी ध्यान देने योग्य है कि जहाँ सङ्गठन व मेल होता है वहाँ घृत व दूध आदि की नदियाँ बहती हैं, वहाँ निर्धनता के कारण इन वस्तुओं का अभाव नहीं होता।

भावार्थ—मेल में ही स्वर्ग है, घी-दूध की नदियों का प्रवाह मेल में ही है।

विशेष—इस सूक्त में नदियों, वायुओं व पक्षिगणों के उदाहरण से मेल के महत्त्व को स्पष्ट किया गया है (१)। सङ्गठन-यज्ञों में हम पशुभाव को नष्ट करने का प्रयत्न करें (२)। सङ्गठन में ही धन है (३), वहीं घी, दूध की नदियों का प्रवाह है (४)। ऐसे सङ्गठनवाले समाज में चोर नहीं होते। यह समाज चोरों का नाश करनेवाला होता है, अतः 'चातन' (चातयति नाशयति) कहलाता है। यही अगले सूक्त का ऋषि है।

१६. [षोडशं सूक्तम्]

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

तुरीय अग्नि का उपदेश

ये ऽमावास्यां३ रात्रिमुदस्थुर्व्राजमत्त्रिणः।
अग्निस्तुरीयो यातुहा सो अस्मभ्यमधि ब्रवत्॥ १॥

१. समाज में अच्छी-से-अच्छी व्यवस्था होने पर भी कुछ-न-कुछ न्यूनता रह ही जाती है और ऊँचे-से-ऊँचे समाज में भी कुछ दस्यु-प्रवृत्ति के लोग हो ही जाते हैं। ज्ञानी संन्यासी उपदेश देकर इन्हें उत्तम बनाने का प्रयत्न करें कि **ये**=जो **अमावास्याम् रात्रिम्**=अमावस की रात्रि में **व्राजम्**=समूह में **उदस्थुः**=उठ खड़े होते हैं, **अत्त्रिणः**=(अद् भक्षणे) ये औरों के खा-जानेवाले होते हैं। चोर-डाकू प्रायः अन्धकार में ही अपना कार्य करते हैं, अतः यहाँ अमावस की रात्रि का उल्लेख है। प्रायः ये अकेले न होकर समूह में अपना कार्य करते हैं, अतः यहाँ 'व्राजः' शब्द का प्रयोग है। अत्यन्त स्वार्थ से चलते हुए ये औरों का नाश करने में तनिक भी नहीं हिचकते, इससे इन्हें 'अत्त्रिणः' कहा गया है। २. सबसे पहले इन्हें ज्ञान देकर, समझा-बुझाकर ठीक मार्ग पर लाने का प्रयत्न करना चाहिए। यह कार्य संन्यासी के द्वारा सुसम्पन्न हो सकता है, अतः कहते हैं कि **अग्निः**=ज्ञानदाता ब्राह्मण **तुरीयः**=जो चतुर्थ आश्रम में प्रवेश कर चुका है, **यातु-हा**=जो उपदेश द्वारा दैत्यों के दैत्यपन को नष्ट करनेवाला है, **सः**=वह, **अस्मभ्यम्**=हमारे लिए, अर्थात् हमारी ओर से—सारे समाज का प्रतिनिधि होकर अथवा हम सबके हित के लिए **अधिब्रवत्**=अधिकारपूर्वक उपदेश करता है। उस ज्ञानी तथा संन्यासी के

उपदेश से प्रभावित होकर वह 'यातु' (Demon) यातु नहीं रहता। अपनी बुराई को छोड़कर वह भी समाज का उपयोगी अङ्ग बन जाता है।

भावार्थ—ज्ञानी संन्यासी उपदेश के द्वारा चोरों की मनोवृत्ति को बदलने का प्रयत्न करें।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**वरुणः, अग्निः, इन्द्रश्च** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

सीसे की गोली

सीसायाध्याह वरुणः सीसायाग्निरुपावति। सीसं म इन्द्रः प्रायच्छत्तदङ्ग यातुचातनम्॥ २ ॥

१. गतमन्त्र के अनुसार 'तुरीय अग्नि' ज्ञानोपदेश के द्वारा चोरों को परिवर्तित करने का प्रयत्न करता है। उसी समय इन्द्र, अर्थात् राजा भी दण्ड-भयादि के द्वारा उन्हें ठीक मार्ग पर लाने के लिए प्रयत्नशील होता है और वरुण=न्यायाधीश राष्ट्र में दुष्टों को उचित दण्ड देता हुआ चोरों को समाप्त करता है, परन्तु जब ये प्रयत्न विफल हो जाते हैं तब **वरुणः**=बुराइयों का निवारण करनेवाला न्यायाधीश **सीसाय**=सीसे की गोली के लिए **अध्याह**=कहता है, अर्थात् यही विधान करता है कि इन्हें गोली से उड़ा दो। **अग्निः**=उपदेष्टा ब्राह्मण भी **सीसाय**=सीसे की गोली के लिए ही **उपावति**=(अव=कान्ति, इच्छा) इच्छा करता है। २. ऐसी स्थिति में औरों से रक्षा के लिए **इन्द्रः**=राजा **मे**=मेरे लिए **सीसम्**=इन सीसे की गोलियों को **प्रायच्छत्**=देता है और कहता है कि हे **अङ्ग**=प्रिय प्रजाजन! **तत्**=यह गोली ही **यातुचातनम्**=दैत्यों को, चोर आदि को नष्ट करनेवाली है, अर्थात् आवश्यक होने पर राजा की ओर से बन्दूक आदि का लाइसेंस मिल जाता है और उसके द्वारा इन यातुओं का नाश करना अभीष्ट होता है।

भावार्थ—न्यायाधीश, ब्राह्मण व राजा सभी न सुधरनेवाले चोरों को गोली मार देने का आदेश देते हैं।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**सीसम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

विष्कन्ध व अत्रि का मर्षण

इदं विष्कन्धं सहत इदं बाधते अत्रिणः। अनेन विश्वा ससहे या जातानि पिशाच्याः॥ ३ ॥

१. गतमन्त्र के अनुसार राजा की ओर से लाइसेंस के द्वारा प्राप्त हुई **इदम्**=यह गोली **विष्कन्धम्**=(विष्कम्भम्) मार्ग में रोककर लूटनेवाले (Highway robbers) परिपन्थियों को **सहते**=पराभूत करती है। **इदम्**=यह **अत्रिणः**=औरों को खा-जानेवाले दैत्यों को **बाधते**=पीड़ित करती है और **अनेन**=इस गोली से उन **विश्वा**=सबका **ससहे**=पराभव करता हूँ **यः**=जोकि **पिशाच्याः जातानि**=पिशाची के सन्तान हैं, अर्थात् अत्यन्त पिशाचवृत्ति के हैं। औरों का मांस खानेवाले पिशाच हैं—जिनकी यह वृत्ति है, उन्हें समाप्त करना ही ठीक हैं। २. चोर आदिकों के खतरे से युक्त स्थान में रहनेवालों को राजा बन्दूक आदि रखने की स्वीकृति दे देता है और वे उसका प्रयोग विष्कन्धों, अत्रियों व पिशाचों के नाश में ही करते हैं।

भावार्थ—सीसे की गोली से मार्गप्रतिरोधक (डाकू), चोर व पिशाचों का संहार करना अभीष्ट है।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**सीसम्** ॥ छन्दः—**ककुम्मत्यनुष्टुप्** ॥

बन्दूक का दुरुपयोग

यदि नो गां हंसि यद्यश्वं यदि पूरुषम्।
तं त्वा सीसेन विध्यामो यथा नोऽसो अवीरहा॥ ४ ॥

१. गतमन्त्र में यह स्पष्ट है कि जिस भी व्यक्ति को आवश्यकता समझकर बन्दूक का

लाइसेंस मिला है, उसे उस बन्दूक से चोर आदि के उपद्रव को दूर करने का प्रयत्न करना है, परन्तु यदि अपने पद व धन आदि से गर्व में चूर होकर वह उस बन्दूक का दुरुपयोग करता है, तो वही उस बन्दूक से दण्डनीय हो जाता है, अतः मन्त्र में कहा है—**यदि**=यदि तू **नः**=हमारी **गां हंसि**=गौ को मार देता है, यदि **अश्वम्**=यदि घोड़े को मार देता है, **यदि पूरुषम्**=यदि किसी निर्दोष पुरुष को ही मार देता है तो **तं त्वा**=उस तुझे ही **सीसेन विध्यामः**=सीसे की गोली से मारते हैं **यथा**=जिससे तू **नः**=हमारे **अवीरहा असः**=वीरों को मारनेवाला न हो। २. यदि किसी ग्वाले की गौ इसके उद्यान को कुछ खराब कर देती है, या किसी कोचवान या कुम्हार का घोड़ा इसकी फुलवाड़ी को कुछ नष्ट कर देता है और वह क्रोध में आकर इन्हें मारता है तो वह दण्डनीय हो जाता है। यह भी हो सकता है कि क्रोध में आकर वह उस ग्वाले व ताँगेवाले को ही मार दे। ऐसी स्थिति में उस बन्दूक से इसे ही दण्डित करना आवश्यक हो जाता है।

भावार्थ—लाइसेंस (रक्षण स्वीकृति) प्राप्त बन्दूक से निर्दोष गौ, घोड़े व मनुष्यों को नहीं मारना चाहिए।

विशेष—सूक्त के आरम्भ में कहा है कि ज्ञानी संन्यासी चोर इत्यादि को सदुपदेश से अच्छा बनाने का प्रयत्न करे (१)। विवशता में चोर आदि को गोली से उड़ा दे (२)। यह गोली डाकू, चोर व पिशाचों के नाश के लिए उद्दिष्ट है (३) परन्तु यदि कोई इससे गौ, घोड़े या मनुष्य को मारे तो वह स्वयं इस गोली से दण्डनीय हो (४)। गोली के अनिष्ट प्रयोग से हो जानेवाले रक्तस्राव को कैसे बन्द किया जाए, इसका वर्णन अगले मन्त्र में हैं—

॥ इति प्रथमः प्रपाठकः

अथ द्वितीयः प्रपाठकः

१७. [सप्तदशं सूक्तम्]

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**योषितो धमन्यश्च**॥ छन्दः—**भुरिगनुष्टुप्**॥

लोहितवाससू हिराएँ

अमूर्या यन्ति योषितो हिरा लोहितवाससः। अभ्रातरइव जामयस्तिष्ठन्तु हतवर्चसः॥ १॥

१. शरीर में नाड़ीचक्र रुधिर के अभिसरण के द्वारा आवश्यक सब धातुओं को यथास्थान पहुँचाता है। इनमें धमनियाँ हृदय से शरीर में रुधिर को ले-जाती हैं और इस यात्रा में कुछ मलिन हो गये रुधिर को शिराएँ (हिराएँ) पुनः हृदय में पहुँचाती हैं। इसप्रकार धमनियों और शिराओं का कार्यक्रम चलता है। घाव लगने पर नाड़ी के फटने से रुधिर के बाहर निकलने को रोकने के लिए उस स्थान को बाँधना आवश्यक हो जाता है। उस समय ये नाड़ियाँ अपने कार्यक्रम में कुछ रुक जाती हैं, अतः मन्त्र में कहा है कि—**अमूः**=वे **याः**=जो **योषितः**=रुधिर का मिश्रण व अमिश्रण करनेवाली **हिराः**=शिराएँ **लोहितवाससः**=रुधिर के निवासवाली **यन्ति**=गति करती हैं, वे अब घाव लगने पर बन्ध के कारण **हतवर्चसः**=नष्टतेज-सी हुई-हुई **तिष्ठन्तु**=ठहर जाएँ। **इव**=इसप्रकार ठहर जाएँ जैसे कि **अभ्रातरः**=बिना भाईवाली **जामयः**=बहिनें निस्तेज-सी होकर ठहर जाती हैं। २. विवाहित होने पर कन्या कभी-कभी अपने पितृगृह में आती रहती है, पिता चले भी जाते हैं तो भाइयों के कारण उसका आना-जाना बना ही रहता है, परन्तु भाई भी न रहे तो बहिन का आना रुक जाता है। वह अपने-आपको कुछ निस्तेज-सा अनुभव करती है। इसीप्रकार बद्ध-नाड़ी निस्तेज-सी हो जाती है। ३. सम्भवतः बिना भाई की बहिनें लोहितवाससू—लाल रङ्ग के कपड़े पहनें, ऐसा यहाँ सङ्केत है। अभिप्रायः इतना ही है कि

निस्तेज बनकर पड़ जाने की अपेक्षा वे तेजस्विता के कार्यों को करने का निश्चय करें।

भावार्थ—घाव लगने पर रुधिरस्राव को रोकने के लिए नाड़ियों को बाँधने पर वे हतवर्चस्-सी होकर रुक जाती हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**योषितो धमन्यश्च** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

नाड़ीचक्र-विकास

तिष्ठा॑वरे॒ तिष्ठ॑ पर उ॒त त्वं ति॑ष्ठ मध्यमे।
क॒नि॒ष्ठि॒का च॒ तिष्ठ॑ति॒ तिष्ठा॒दिद्ध॒मनि॒र्म॒ही॥ २ ॥

१. कई बार बड़े-बड़े ऑप्रेशनों (शल्यक्रिया के कार्यों) में रुधिर की गति को रोकना नितान्त अभीष्ट हो जाता है। उस समय **अवरे**=हे निचली नाड़ी! तू **तिष्ठ**=ठहर जा, **परे**=उपरली नाड़ी! तू भी **तिष्ठ**=ठहर जा **उत**=और **मध्यमे**=हे मध्यम नाड़ी! **त्वं तिष्ठ**=तू भी ठहर। २. स्थान के दृष्टिकोण से तीन प्रकार की ही नाड़ियाँ सम्भव हैं—'निचली, उपरली व बीच की'। अब आकार-प्रकार के दृष्टिकोण से उल्लेख करते हुए कहा है—**च**=और **कनिष्ठिका**=छोटी नाड़ी **तिष्ठति**=ठहरती है, **इत्**=निश्चय से **मही धमनिः**=बड़ी नाड़ी भी **तिष्ठात्**=रुक जाए। इसप्रकार कुछ देर के लिए रुधिर-प्रवाह को रोककर शल्यक्रिया का कार्य ठीक प्रकार से सम्पन्न हो जाने पर पुनः रुधिराभिसरण का कार्य सब नाड़ियों में ठीक से होने लगेगा। ३. यहाँ शल्यक्रिया के अत्यन्त कुशलतापूर्ण प्रयोग का संकेत स्पष्ट है।

भावार्थ—सब नाड़ियों में चलनेवाले रुधिराभिसरण को रोककर शल्यक्रिया के कार्य को सुसम्पन्न कर लिया जाए।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**योषितो धमन्यश्च** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

धमनियों और हिराओं के बीच की नाड़ियाँ

श॒तस्य॑ ध॒मनी॑नां स॒हस्र॑स्य हि॒राणा॑म्। अस्थु॒रिन्म॑ध्य॒मा इ॒माः सा॒कमन्ता॑ अरंसत ॥ ३ ॥

१. नाड़ीचक्र में एक ओर धमनियाँ हैं, दूसरी और हिराएँ हैं। धमनियाँ रुधिर को शरीर में भेज रही हैं और हिराएँ उसे पुनः हृदय में लौटा रही हैं। इनके बीच की नाड़ियों को रोककर कई बार इनके अन्तिम प्रदेशों (दोनों सिरों) को ठीक करना होता है। उसी का वर्णन करते हैं—**धमनीनां शतस्य**=सौ धमनियों के तथा **हिराणां सहस्रस्य**=हज़ारों हिराओं के **मध्यमाः इमाः**=बीच में होनेवाली नाड़ियाँ **इतः**=निश्चय से **अस्थुः**=रुक गई हैं। अब **अन्ताः**=इनके अन्तभाग **साकम्**=साथ-साथ ही **अरंसत**=रुक गये हैं (रम्=to Pause) २. नाड़ीचक्र में धमनियों व हिराओं के बीच में होनेवाली योजक नाड़ियों का ठीक होना नितान्त आवश्यक है। इनके अन्तिम भाग भी ठीक होने आवश्यक हैं।

भावार्थ—धमनियों और हिराओं के बीच की नाड़ियों के कार्य का ठीक होना नितान्त आवश्यक है।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**योषितो धमन्यश्च** ॥ छन्दः—**त्रिपदार्षीगायत्री** ॥

खाँड व अन्न का मात्रा में प्रयोग

परि॑ वः॒ सिक॑तावती ध॒नूर्बृ॑ह॒त्य॑क्रमीत्। तिष्ठ॑ते॒लय॑ता॒ सु क॑म्॥ ४ ॥

१. हे नाड़ियो! **सिकतावती**=रेतवाले **बृहती धनूः**=इस विशाल (धनू=Store of grain) अन्नभण्डार ने **वः**=तुमपर **परि अक्रमीत्**=आक्रमण किया है। वस्तुतः अन्न के शरीर में ठीक से न पहुँचने पर नाड़ियों में विकार आता है। रेत के कारण पथरी आदि रोगों की आशंका हो

जाती है। अन्न का अधिक प्रयोग भी अवाञ्छनीय प्रभावों को पैदा करता है। २. 'सिकता' शब्द मिश्री के लिए भी प्रयोग में आता है, सम्भवतः खाँड का अधिक प्रयोग भी नाड़ीचक्र के स्वास्थ्य के लिए ठीक नहीं। ३. नाड़ीचक्र का थोड़ी देर के लिए ठहरना, प्रयोग के ठीक से हो जाने पर फिर कार्य करने लगना—यह शारीरिक स्वास्थ्य के लिए आवश्यक है, अतः कहा गया है **तिष्ठत**=थोड़ी देर के लिए रुको। सब मलों के हटा दिये जाने पर पुनः **कम्**=सुख से **सु**=अच्छी प्रकार **इलयत**=प्रेरित—गतिवाली होओ। यह सब प्राणायाम की साधना से ही सम्भव है। प्राणायाम की साधना करनेवाला योगी सारे नाड़ीचक्र पर प्रभुत्व पा लेता है और नाड़ीचक्र के स्वास्थ्य से शरीर, मन व बुद्धि का उत्कर्ष करनेवाला हो जाता है।

भावार्थ—नाड़ीचक्र के स्वास्थ्य के लिए खाँड व अन्न के प्रयोग पर अत्यन्त ध्यान रखना आवश्यक है।

सूचना—इन सारे प्रयोगों को ठीक रूप में करनेवाला **ब्रह्मा**=ज्ञानी पुरुष इस सूक्त का ऋषि है। इस प्रयोगकर्त्ता के लिए अधिक-से-अधिक योग्य होना आवश्यक है। यह ठीक प्रयोग करके अशुभ लक्षणों को दूर करता है, शुभ लक्षणों को प्राप्त कराके सौभाग्य को प्राप्त करानेवाला है, अतः यह अगले सूक्त का ऋषि 'द्रविणोदाः' बनता है।

१८. [अष्टादशं सूक्तम्]

ऋषिः—**द्रविणोदाः** ॥ देवता—**सावित्रादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**उपरिष्टाद्विराड्बृहती** ॥

मस्तिष्क और मन का स्वास्थ्य

निर्लक्ष्म्यं ललाम्यं१ निररातिं सुवामसि।
अथ या भद्रा तानि नः प्रजाया अरातिं नयामसि॥ १॥

१. **ललाम्यम्**=मस्तक पर होनेवाले **लक्ष्म्यम्**=अशुभ चिह्न को—कलङ्क को **निः सुवामसि**=निःशेषतया दूर करते हैं। मस्तक पर होनेवाला बाह्य विकार जो अत्यन्त अशुभ प्रतीत होता है, वह और मस्तिष्क-सम्बन्धी आन्तर विकार भी नाड़ीचक्र के स्वास्थ्य के द्वारा दूर हो जाता है। इस नाड़ीचक्र के स्वास्थ्य से **अरातिम्**=मन में उत्पन्न होनेवाली अदान की वृत्ति को **निः सुवामसि**=हम दूर करते हैं। २. **अथ**=और **या भद्रा**=जो भी भद्र बातें हैं, **तानि**=उन्हें **नः प्रजायाः**=अपनी प्रजा के साथ जोड़ते हैं और **अरातिम्**=अदान-भावना को **नयामसि**=उनसे दूर भगाते हैं।

भावार्थ—मस्तिष्क-सम्बन्धी अशुभ लक्षण तथा मन में होनेवाली कृपणता हमसे दूर हो।

ऋषिः—**द्रविणोदाः** ॥ देवता—**सावित्रादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥

हाथ-पैरों की निर्दोषता

निररणिं सविता साविषक्पदोर्निर्हस्तयोर्वरुणो मित्रो अर्यमा।
निरस्मभ्यमनुमती रराणा प्रेमां देवा असाविषुः सौभगाय॥ २॥

१. **सविता**=सम्पूर्ण संसार को जन्म देनेवाला प्रभु **पदोः**=पाँवों में से **अरणिम्**=पीड़ा को **निः साविषक्**=पूर्णरूपेण दूर करे, **हस्तयोः**=हाथों में से भी इस पीड़ा को **वरुणः**=वरुण, **मित्रः**=मित्र और **अर्यमा**=अर्यमा **निः**=दूर करे। पाँवों व हाथों में कमी आ जाने से सारी क्रियाएँ रुक जाती हैं। इन कमियों का दूरीकरण सविता, वरुण, मित्र व अर्यमा की कृपा से होता है। 'सविता' निर्माणात्मक कार्यों में लगे रहने का संकेत करता है, 'वरुण' द्वेष-निवारण की देवता है, 'मित्रः' सबके साथ स्नेह की भावना को व्यक्त करता है, 'अर्यमा' (अरीन् यच्छति) काम-

क्रोधादि शत्रुओं के नियमन को कह रहा है। एवं, हाथ-पाँवों के सब दोषों को दूर करने के लिए आवश्यक है कि (क) हम निर्माणात्मक कार्यों में लगे रहें। तोड़-फोड़ के विध्वंसक कार्यों को करनेवाले ही अपने हाथ-पैर विकृत कर बैठते हैं। (ख) इसी प्रसङ्ग में यह नितान्त आवश्यक है कि हम द्वेष न करें—सबके साथ स्नेह से चलें। (ग) इसके लिए अर्यमा बनने की आवश्यकता है। काम-क्रोध-लोभ का नियमन करने पर ही हम द्वेष से ऊपर उठकर प्रेम से वर्त्तनेवाले होते हैं। २. **अस्मभ्यम्**=हमारे लिए **रराणा**=सब उत्कृष्ट भावों को देती हुई **अनुमतिः**=अनुकूल मति **निः**=हमारे हाथों व पैरों से विकारों को दूर करे। प्रतिकूल मति विकृत-भावों को पैदा करके अङ्गों की विकृति का कारण बनती है, अतः **इमाम्**=इस अनुकूल मति को सब **देवाः**=देव **प्र असाविषुः**=हमारे अन्दर उत्पन्न करें, जिससे **सौभगाय**=सौभग—सौन्दर्य हममें निवास करें।

भावार्थ—अशुभ लक्षणों को दूर करने के लिए और हाथ-पैरों के शुभ लक्षणों के लिए आवश्यकता है कि (क) हम निर्माण के कार्यों में लगे रहें, (ख) द्वेष न करें, (ग) स्नेहवाले हों, (घ) काम-क्रोध-लोभ को काबू करें, (ङ) अनुकूल मतिवाले हों, निराशा के विचारोंवाले न हों।

ऋषिः—**द्रविणोदाः** ॥ देवता—**सावित्रादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**विराडास्तारपंक्तिस्त्रिष्टुप्** ॥

उत्तम आत्मप्रेरणा व देव-स्मरण

यत्त आत्मनि तन्वां घोरमस्ति यद्वा केशेषु प्रतिचक्षणे वा।
सर्वं तद्वाचाप हन्मो वयं देवस्त्वा सविता सूदयतु ॥ ३ ॥

१. **यत्**=जो **ते**=तेरे **आत्मनि**=आत्मा में—मन में, **तन्वाम्**=या शरीर में **घोरम्**=भयानक चिह्न **अस्ति**=है, **वा**=अथवा **यत्**=जो **केशेषु**=बालों में **वा**=या **प्रतिचक्षणे**=प्रत्येक आँख में विकार है, **तत् सर्वम्**=उस सब विकार को **वाचा**=वाणी के द्वारा **वयम्**=हम **अपहन्मः**=दूर करते हैं। मन में, शरीर में, बालों में, आँखों में कहीं भी कोई विकार हो, उसे वाणी से दूर करते हैं, अर्थात् आत्मप्रेरणा के रूप में वाणी के द्वारा शुभ शब्दों का उच्चारण करते हुए हम अशुभ लक्षणों को दूर करते हैं। मुझमें यह विकार नहीं रहेगा, इसका स्थान सौभग लेगा—इसप्रकार के दृढ़ विचारों को जन्म देनेवाले शब्द इन विकारों को सचमुच नष्ट करनेवाले होते हैं। २. इसप्रकार वाणी के द्वारा आत्मिक शक्ति को जाग्रत् करने में लगे हुए **त्वा**=तुझे **देवः सविता**=यह दिव्य गुणों का पुञ्ज—दिव्यता का उत्पादक प्रभु **सूदयतु**=(Urge on, animate) उन्नति-पथ पर आगे बढ़ने के लिए अशुभ लक्षणों को दूर करके शुभ लक्षणों की अभिवृद्धि के लिए प्रेरित करे। प्रभु की दिव्यता का स्मरण हममें दिव्यता की अभिवृद्धि का कारण होता है।

भावार्थ—उत्तम आत्मप्रेरणा व देव प्रभु का स्मरण हमारे मन, शरीर, बालों व आँखों के अशुभ लक्षणों को दूर करते हैं।

ऋषिः—**द्रविणोदाः** ॥ देवता—**सावित्रादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

विकार-विनाश

रिश्यपदीं वृषदतीं गोषेधां विधमामुत।
विलीढ्यं ललाम्यं ता अस्मन्नाशयामसि ॥ ४ ॥

१. **रिश्यपदीम्**=हरिण के समान टाँगोंवाली—हरिण की टाँगे पतली व भद्दी प्रतीत होती हैं, अतः यह टाँगों का एक अशुभ लक्षण है। **वृषदतीम्**=बैल के समान दाँतोंवाली—बैल के

समान बड़े-बड़े दाँत चेहरे के सब सौन्दर्य को समाप्त कर देते हैं, छोटे-छोटे दाँत ही सुन्दर प्रतीत होते हैं। **गोषेधाम्**=(सेधतिर्गत्यर्थ:) गौ के समान चालवाली को—गौ या बैल इधर-उधर कुछ हिलते हुए आगे बढ़ते हैं। यह झूमती हुई चाल भी अनिष्ट है **उत**=और **विधमाम्**=(ध्मा=शब्द) विकृत शब्दवाली—भिन्न-कांस्य स्वरवाली **ता:**=उन सबको—उन सब विकृतियों को **अस्मत्**=हमसे **नाशयामसि**=नष्ट करते हैं। इसके साथ **ललाम्यम्**=मस्तिष्क में होनेवाले **विलीढ्यम्**=गञ्जेपन को (बालों को चाटे जाने को) भी हम अपने से दूर करते हैं। 'रिश्यपदी व वृषदती' दोनों शब्द टाँगों व दाँतों की समानुपातता के अभाव को प्रतिपादित करते हैं। 'गोषेधा व विधमा' शब्द चाल व शब्द की क्रियाओं के विकार को सूचित करते हैं। मस्तक का गंजापन कुछ भद्देपन की गन्ध देता है। इन सब विकारों को दूर करना अभीष्ट है। सौन्दर्य का निर्भर विकारों के न होने में ही है।

भावार्थ—हम आकार की आनुपातिकता के न होने से—क्रियाओं की विकृति से तथा अभीष्ट स्थान पर बालों के न होने से होनेवाले असौभाग्य को दूर करें। प्रभुकृपा से सौभाग्यरूप द्रविण को प्राप्त करें।

विशेष—अठारहवें सूक्त के दो भाग हैं। एक भाग वह है जिसमें अशुभ लक्षणों का प्रतिपादन है और दूसरा भाग वह है जिसमें उन लक्षणों को दूर करने के उपायों का प्रतिपादन है। ये दोनों भाग मिश्र-से अवश्य हैं, परन्तु अत्यन्त स्पष्ट हैं। क्या शरीर के विकार और क्या मन के विकार सभी निर्माणात्मक कार्यों में लगे रहने से, द्वेष न करने से, स्नेह से, काम-क्रोध-लोभ को काबू करने से, अनुकूल मति से, अनुकूल आत्मप्रेरणा से दूर होते हैं। विकारों का दूर होना ही सौभाग्य-प्राप्ति है।

इस सौभाग्य-प्राप्ति के लिए अपने-आपको शत्रुओं के आक्रमण से बचाना आवश्यक है, अत: अग्रिम सूक्त में इसी बात का उल्लेख है। सब बुराइयों को दूर करके यह 'ब्रह्मा' बनता है, ब्रह्मा ही इस सूक्त का ऋषि है—

१९. [एकोनविंशं सूक्तम्]

ऋषि:—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**इन्द्र:** ॥ छन्द:—**अनुष्टुप्** ॥

विव्याधी-अभिव्याधी

मा नो॑ विदन्विव्या॒धिनो॒ मो अ॑भिव्या॒धिनो॑ विदन्।
आ॒राच्छ॑र॒व्या॒ ॅ अ॒स्मद्वि॑षू॒चीरिन्द्र पातय॥ १॥

१. इस मन्त्र का देवता 'इन्द्र' है। उपासक इसी को अपना कवच बनाता है—'**ब्रह्म वर्म ममान्तरम्**'—ब्रह्मरूप कवचवाला ब्रह्मा प्रार्थना करता है कि—**न:**=हमें **विव्याधिन:**=विशेषरूप से विद्ध करनेवाले लोभ आदि शत्रु **मा विदन्**=प्राप्त न हों, हमपर इनका आक्रमण न हो **उ**=और **अभिव्याधिन:**=चारों ओर से आक्रमण करनेवाले काम आदि शत्रु भी **मा विदन्**=मत प्राप्त हों। २. हे **इन्द्र**=सब असुरों का संहार करनेवाले प्रभो! **विषूची:**=(वि+सु+अञ्च) विविध दिशाओं से तीव्रता के साथ आनेवाली **शरव्या:**=शर-समूह की वृष्टियों को **अस्मत्**=हमसे **आरात्**=दूर ही **पातय**=गिरा दीजिए। ३. लोभ का आक्रमण भी बड़ा तीव्र होता है। यह लोभ समाप्त ही नहीं होता। अपने आक्रमण से यह बुद्धि को लुप्त कर देता है। काम का आक्रमण तो चतुर्दिक् आक्रमण के समान है। यह कामदेव 'पञ्चशर' है। यह पाँचों बाणों से इकट्ठा ही आक्रमण करता है। एवं, लोभ 'विव्याधी' था तो काम 'अभिव्याधी' है। प्रभुकृपा से इनके बाण हमसे दूर ही गिरें।

भावार्थ—प्रभु हमसे 'विव्याधी' लोभ को तथा 'अभिव्याधी' काम के बाणों को दूर ही गिराएँ।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**मनुष्येषवः** ॥ छन्दः—**पुरस्ताद्बृहती** ॥

'दैव व मानुष' इषु

विष्वञ्चो अस्मच्छरवः पतन्तु ये अस्ता ये चास्याः।
दैवीर्मनुष्येषवो ममामित्रान्वि विध्यत॥ २॥

१. गतमन्त्र के विव्याधी और अभिव्याधी के **ये अस्ताः**=जो फेंके जा चुके हैं, **ये च**=और जो **आस्याः**=फेंके जाने हैं, वे **विष्वञ्चः शरवः**=विविध दिशाओं से आनेवाले अस्त्र **अस्मत्**=हमसे दूर ही **पतन्तु**=गिरें। हम इनके बाणों के शिकार न हों। जो बाण इन्होंने फेंके हैं उनके आक्रमण से हम बचें और जो बाण इनसे फेंके जाएँगे उनसे भी हम बच पाएँ। वर्त्तमान में भी लोभ और काम के शिकार न हों, भविष्य में भी इनका शिकार होने की आशंका से बचे रहें। २. हे **देवीः**=देव-सम्बन्धी अस्त्रो! तथा **मनुष्येषवः**=मनुष्य-सम्बन्धी अस्त्रो! तुम सब **मम**=मेरे **अमित्रान्**=शत्रुओं को ही **विविध्यत**=बींधो, मैं तुम्हारा शिकार न होऊँ। देव-सम्बन्धी अस्त्र 'निखरते' हुए यौवन का सौन्दर्य, चाल की मस्ती व कटाक्षवीक्षण (Side look glance) आदि हैं। हम इन सबके कुप्रभाव से बचें। हमारे शत्रु ही इनके शिकार बनें।

भावार्थ—हम वर्त्तमान में भी लोभ व काम के शिकार न हों, भविष्य में भी इनका शिकार होने से बचें। प्रकृति की वसन्त-ऋतु आदि में होनेवाली शोभा तथा किसी भी युवक व युवति की हाव-भावभरी गतियाँ हमें काम का शिकार न बना सकें।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**रुद्रः** ॥ छन्दः—**पथ्यापङ्क्तिः** ॥

कुसङ्ग के कुप्रभाव से दूर

यो नः स्वो यो अरणः सजात उत निष्ट्यो यो अस्माँ अभिदासति।
रुद्रः शरव्यया्तान्ममामित्रान्वि विध्यतु॥ ३॥

१. **यः**=जो **नः**=हमें **स्वः**=अपना अथवा **यः**=जो **अरणः**=पराया **सजातः**=अपनी बिरादरी व कुटुम्ब का **उत**=और **निष्ट्यः**=बिरादरी से बाहर का **यः**=जो कोई **अस्मान्**=हमें **अभिदासति**=इन वासनाओं में फँसाकर नष्ट करने का प्रयत्न करता है—ये सब मेरे अमित्र (शत्रु) तो हैं ही। इन्हें मैं अपना हितचिन्तक न समझ बैठूँ और इनकी बातों में आकर जीवन को नष्ट न कर डालूँ। २. **रुद्रः**=शत्रुओं को रुलानेवाला वह प्रभु **एतान् मम अमित्रान्**=मेरे इन शत्रुओं को ही **शरव्या**=काम-लोभादि के बाणसमूह से **विविध्यतु**=विद्ध करे। मैं तो प्रभुकृपा से इनके प्रभाव से दूर रहूँ और इस शरसमूह से विद्ध न होऊँ। वस्तुतः प्रभु मेरे उन शत्रुओं को ही इनके घातक प्रभाव से पीड़ित कर रुलानेवाले हों और इसप्रकार कटु अनुभव प्राप्त कराके उन्हें इन वासनाओं से बचने के लिए प्रेरित करें।

भावार्थ—अपने-पराये, बिरादरी के व बाहर के—सभी के कुप्रभावों से हम बचें और लोभ व काम के शिकार न हों।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**देवाः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

ब्रह्मरूप आन्तर-कवच

यः सपत्नो यो ऽसपत्नो यश्च द्विषञ्छपाति नः।
देवास्तं सर्वे धूर्वन्तु ब्रह्म वर्म ममान्तरम्॥ ४॥

१. **यः**=जो **सपत्नः**=शत्रु अथवा **यः**=जो **असपत्नः**=शत्रु नहीं भी लगता, **यः च**=और जो **द्विषन्**=हमारे साथ प्रीति न करता हुआ **नः**=हमें **शपाति**=आक्रुष्ट करता है (Curses), **तम्**=उसे **सर्वे देवाः**=सब देव **धूर्वन्तु**=हिंसित करें। उसे देवताओं की अनुकूलता प्राप्त न हो। सूर्य आदि देवों की प्रतिकूलता से वह अस्वस्थ होकर शान्ति-लाभ न कर पाये। वस्तुतः जो दूसरों को शाप देता है, वह शाप उसके लिए ही शाप प्रमाणित होता है। उसके अन्दर विषैले द्रव्य पैदा होकर उसे ही अस्वस्थ व अशान्त कर देते हैं। हम उसके लिए अमङ्गल की भावना को अपने हृदयों में न आने दें। उसका शाप उसे स्वयं दण्डित करनेवाला होगा। २. हम तो यह निश्चय करें कि **ब्रह्म**=यह ज्ञान अथवा प्रभु **मम**=मेरे **आन्तरं वर्म**=आन्तर कवच होंगे और मैं उन शत्रुओं और विद्वेषियों के अपशब्दरूप बाणों से विद्ध न होऊँगा। मैं क्षुब्ध न होकर सदा शान्त रहूँगा।

भावार्थ—हम ब्रह्म को अपना कवच बनाकर '**आक्रुष्टः कुशलं वदेत्**' निन्दा करने पर भी निन्दक के कल्याण की कामना करे—इस सिद्धान्त को अपनाने का प्रयत्न करें।

विशेष—सूक्त के आरम्भ में लोभ व काम से विद्ध न होने की प्रार्थना है (१) और इस वेधन से बचने के लिए समाप्ति पर ब्रह्म को आन्तर-कवच बनाने का विधान है (४)। ब्रह्म को कवच बनानेवाला 'अथर्वा' अडिग बनता है। यह शान्त होता है (सोम) और प्रार्थना करता है कि—

२०. [विंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**सोमः, मरुतश्च**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

अदारसृत् (एकता का मार्ग)

अदा॑रसृद्भवतु देव सोमा॒स्मिन्य॒ज्ञे म॑रुतो मृडता॑ नः।
मा नो॑ विददभि॒भा मो अश॑स्ति॒र्मा नो॑ विदद् वृ॒जिना द्वेष्या॒ या॥ १॥

१. 'देव और सोम' ये दोनों सम्बोधन एकता के लिए साधनों का संकेत कर रहे हैं। हम देव बनें—प्रकाशमय जीवनवाले बनें तथा सौम्य स्वभाव को अपनाएँ—अभिमान से दूर हों। ज्ञान व निरभिमानता हमें एकता के मार्ग पर चलानेवाले होंगे। हे **देव**=दिव्य गुणों के पुञ्ज! **सोम**=शान्त प्रभो! आप ऐसी कृपा कीजिए कि आपकी उपासना से **अस्मिन् यज्ञे**=इस जीवन-यज्ञ में **अदारसृत् भवतु**=हमारा मार्ग (सृत्) फूट (दार) का न हो। हम '**सं गच्छध्वं संवदध्वम्**' का ही पाठ पढ़कर चलें। हमारा जीवन फूट से ऊपर उठकर सचमुच यज्ञ (संगतिकरण) का हो। २. हे **मरुतः**=प्राणो! **नः मृडत**=हमें सुखी करो। प्राणसाधना के द्वारा हमारे मन निर्मल हों, हम राग-द्वेष से ऊपर उठकर परस्पर मेल की भावनावाले हों। ३. इसप्रकार पारस्परिक मेल से **नः**=हमें **अभिभा**=पराभव **मा विदत्**=मत प्राप्त हो—शत्रु हमें पराभूत न कर सकें। एकता की शक्ति हमें अजेय बना दे **उ**=और **अशस्तिः**=अपकीर्ति व कोई भी अशुभ वस्तु **मा**=मत प्राप्त हो तथा विशेषकर **या**=जो **द्वेष्या**=परस्पर अप्रीति की कारणभूत **वृजिना**=कुटिलता है, वह **नः**=हमें **मा विदत्**=मत प्राप्त हो। हम 'अभिभा, अशस्ति, व वृजिन' से ऊपर उठ सकें। एकता के अभाव में ही पराभव, अपकीर्ति व कुटिलताएँ पनपा करती हैं।

भावार्थ—हमारा जीवन यज्ञमय हो, हम कभी फूट के मार्ग पर न चलें। हम पराभव, अपकीर्ति व कुटिलता से बचें।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**मित्रावरुणौ**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

मित्र और वरुण द्वारा रक्षण

यो अ॒द्य सेन्यो॑ व॒धो ऽघा॒यूना॑मु॒दीर॑ते। यु॒वं तं मि॑त्रावरुणाव॒स्मद्या॑वयतं॒ परि॑॥ २॥

१. गतमन्त्र के अनुसार हमारा मार्ग **अदारसृत**=एकता व मेल का होगा तो कोई भी शत्रु हमपर क्यों आक्रमण कर सकेगा? इस बात को स्पष्ट करते हुए मन्त्र में कहा है—**अघायूनाम्**=दूसरों का अघ=कष्ट व अहित चाहनेवालों का **यः**=जो भी **अद्य**=आज **सेन्यः वधः**=सेना के आक्रमण के द्वारा होनेवाला वध **उदीरते**=उठ खड़ा होता है, अर्थात् यदि कोई शत्रु सेना के द्वारा आक्रमण करता है तो **मित्रावरुणा**=मित्र और वरुण—परस्पर स्नेह व निर्द्वेषता की भावनाओ! **युवम्**=तुम दोनों **तम्**=उस सेन्य को **अस्मत्**=हमसे **परियावयतम्**=सर्वथा पृथक् कर दो। वह शत्रु सेना के द्वारा हमारा वध न कर पाये। २. इस वध को रोकनेवाले मुख्य देव मित्र और वरुण ही हैं। पारस्परिक स्नेह व निर्द्वेषता से ही हम शत्रु का मुक़ाबला कर सकते हैं। इसी बात को प्रथम मन्त्र में इस रूप में कहा था कि 'फूट का मार्ग न होने पर हमारा पराभव न हो'।

भावार्थ—देशवासियों में परस्पर मेल व द्वेष का अभाव होने पर शत्रु उन्हें आक्रान्त नहीं कर सकता।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**वरुणः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

निर्द्वेषता व महान् सुख (शान्ति)

इतश्च यदमुतश्च यद्वधं वरुण यावय।
वि महच्छर्म यच्छ वरीयो यावया वधम्॥ ३॥

१. हे **वरुण**=द्वेष-निवारण की देवते! तू **यत् इतः च**=जो इधर से होनेवाला **च**=और **यत्**=जो **अमुतः**=उधर से होनेवाला **वधम्**=वध है, उसे **यावय**=हमसे पृथक् कर दे। जब हममें द्वेष होता है तब यह द्वेष हमारे अन्दर विषयों को जन्म देकर हमारा वध करनेवाला होता है। यह वध यहाँ 'इतः' (इधर से) इस शब्द द्वारा सूचित हुआ है। इस द्वेष के होने पर हम शत्रुओं से आक्रान्त होने योग्य होते हैं और यह वध यहाँ 'अमुतः' (उधर से) शब्द से संकेतित हो रहा है। इन दोनों ही वधों को वरुण हमसे दूर करते हैं। द्वेष-निवारण की देवता हमें इस उभयविध वध से बचाती है। २. इस वध से बचाकर हे वरुण! **महत् शर्म**=महान् कल्याण व सुख को **वियच्छ**=विशेषरूप से प्राप्त कराइए। द्वेष के न होने पर हम आन्तरिक व बाह्य वध से बचकर सुखी जीवनवाले होते हैं। हे वरुण! निर्द्वेषता की देवते! **वधम्**=वध को **वरीयः यावय**=हमसे बहुत दूर कर दीजिए। वस्तुतः द्वेष के अभाव में वध हमारे समीप आ ही नहीं सकता।

भावार्थ—हम द्वेष से दूर हों। द्वेष से ऊपर उठकर आन्तर व बाह्य वध से आक्रान्त न हों।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

आत्मशासन व महत्ता

शास इत्था महाँ अस्यमित्रसाहो अस्तृतः।
न यस्य हन्यते सखा न जीयते कदा चन॥ ४॥

१. प्रभु अथर्वा से कहते हैं—**शासः**=तू अपना शासन करनेवाल बन। **इत्था**=इस प्रका ही तू **महान् असि**=बड़ा होता है। अपना विजय करनेवाला ही सर्वमहान् विजेता है। **अमित्र-साहः**=अपना विजय करके तू शत्रुओं का पराभव करता है और **अस्तृतः**=अहिंसित होता है। जिस समय हम अपना शासन करके राग-द्वेष आदि को जीत पाते हैं, उसी समय हम महान् होते हैं, बाह्य शत्रुओं को भी जीतनेवाले होते हैं और किसी प्रकार से हिंसित नहीं होते। २. **यस्य**=जिसका **सखा**=मित्र **न हन्यते**=नहीं मारा जाता वह **कदाचन**=कभी भी **न जीयते**=पराजित

नहीं होता। यदि हममें स्नेह का भाव बना रहता है तो हम कभी भी पराभूत नहीं होते। इस मन्त्र-भाग का यह अर्थ भी द्रष्टव्य है कि जो प्रभुरूप मित्र को नहीं भूलता वह अपराभूत बना रहता है।

भावार्थ—आत्मविजय हमें महान् बनाती है और मित्रभाव हमें अपराजित बनाता है।

विशेष—सूक्त के आरम्भ में प्रार्थना है कि हमारा प्रत्येक कार्य मेल को बढ़ानेवाला हो (१)। समाप्ति पर कहा है कि हम आत्मविजयी बनकर अपराजित बनें (४)। अगले सूक्त में भी यही अथर्वा आराधना करता है कि—

२१. [एकविंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

प्रजा-रक्षण

स्वस्तिदा विशां पतिर्वृत्रहा विमृधो वशी। वृषेन्द्रः पुर एतु नः सोमपा अभयङ्करः॥ १॥

१. राष्ट्र की व्यवस्था के ठीक होने पर ही प्रायः सब प्रकार की उन्नति होती है, अतः उत्तम राष्ट्र-व्यवस्थापक 'इन्द्रः'=शत्रुओं के विद्रावक राजा का चित्रण करते हुए कहते हैं कि यह **इन्द्रः**=राष्ट्र के ऐश्वर्य को बढ़ानेवाला, शत्रु-विजेता राजा **स्वस्तिदा**=उत्तम स्थिति को देनेवाला हो, **विशांपतिः**=प्रजाओं का रक्षक हो **वृत्रहा**=राष्ट्र-उन्नति में बाधक व्यक्तियों का हनन करनेवाला हो, **विमृधः वशी**=वध करनेवालों को वशीभूत करनेवाला, **वृषा**=शक्तिशाली, **सोमपा**=सौम्य व्यक्तियों की रक्षा करनेवाला **अभयंकरः**=प्रजाओं के लिए निर्भयता करनेवाला इन्द्र **नः पुरः एतु**=हमारे आगे चलनेवाला हो—हमारा नेतृत्व करे। २. राजा का मौलिक कर्त्तव्य यही है कि वह प्रजाओं का रक्षण करे (विशांपतिः), उनकी स्थिति को अच्छा बनाये (स्वस्तिदा)। इस स्थिति को अच्छा बनाने के लिए आवश्यक है कि वह प्रजाओं में निर्भयता का सञ्चार करे (अभयंकरः)। इस निर्भयता के लिए वह वृत्रवृत्तिवालों का नाश करे (वृत्रहा), हिंसकों को पूर्णरूप से वश में करे (विमृधः वशी) और सौम्य व्यक्तियों का रक्षण करे (सोमपा)।

भावार्थ—राजा का मूल कर्त्तव्य प्रजा-रक्षण है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

अन्तः व बाह्य शत्रुओं का दूरीकरण

वि न इन्द्र मृधो जहि नीचा यच्छ पृतन्यतः।
अधमं गमया तमो यो अस्माँ अभिदासति॥ २॥

१. हे **इन्द्र**=शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले राजन्! **नः मृधः**=हमारे हिंसकों को **विजहि**=आप विशेषरूप से नष्ट कीजिए। हिंसक वृत्तिवाले पुरुषों का प्रजा से दूर करना आवश्यक ही है। २. **पृतन्यतः**=सेना के द्वारा आक्रमण करनेवालों को **नीचा यच्छ**=पाँवों तले करनेवाले होओ। देश पर सेना के साथ आक्रमण करनेवाले शत्रुओं का प्रबल मुक़ाबला करके उन्हें नीचा दिखाना आवश्यक है। २. **यः**=जो **अस्मान्**=हमें **अभिदासति**=दास बनाता है, उसे **अधमं तमः गमय**=घने अन्धकार में प्राप्त कराइए। दास बनाने की वृत्तिवाले लोगों को क़ैद में रखना आवश्यक है।

भावार्थ—हिंसकों को राजा वध दण्ड दे, सैनिक आक्रमण करनेवालों को पूर्ण पराजय प्राप्त कराए और स्वतन्त्रता का अपहरण करनेवालों को अन्धकारमय कारागार में रक्खे।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

वृत्रों का विनाश

वि रक्षो वि मृधो जहि वि वृत्रस्य हनू रुज।
वि मन्युमिन्द्र वृत्रहन्नमित्रस्याभिदासतः ॥ ३ ॥

१. हे **इन्द्र**=शत्रुनाशक! राष्ट्र के ऐश्वर्य को बढ़ानेवाले राजन्! **रक्षः**=अपने रमण के लिए औरों का क्षय करनेवाले, औरों का नाश करके अपने भोगों को बढ़ानेवाले पुरुषों को **विजहि**=विशेषरूप से नष्ट कीजिए। **मृधः**=प्राणघातक पुरुषों को तो अलग कीजिए ही। **वृत्रस्य**=औरों की उन्नति में सदा रोड़ा अटकानेवाले के **हनूः विरुज**=जबड़ों को तोड़ दीजिए, अर्थात् उनकी शक्ति को कम कीजिए। २. हे **वृत्रहन्**=वृत्रों का विनाश करनेवाले राजन्! **अभिदासतः अमित्रस्य**=हमें अपना दास बनानेवाले शत्रु के **मन्युम्**=उत्साह को **वि**=विनष्ट कीजिए। उसपर आक्रमण करके ऐसा दिखाइए कि उसका हमपर आक्रमण करने का उत्साह ही नष्ट हो जाए।

भावार्थ—राजा राक्षसी वृत्तिवाले, हिंसक, उन्नतिविघातक पुरुषों को दूर करे, बाह्य आक्रान्ताओं को भी समाप्त करे।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'द्वेष, आयुष्यनाश व वध' से दूर

अपेन्द्र द्विषतो मनोऽप जिज्यासतो वधम्।
वि महच्छर्म यच्छ वरीयो यावया वधम्॥ ४॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशाली प्रभो! **द्विषतः मनः अप**=द्वेष करनेवाले के मन को हमसे दूर कीजिए, अर्थात् हम अपने मन में किसी के प्रति द्वेष न करें, **जिज्यासतः**=(ज्या वयोहानौ) आयुष्य का नाश करनेवाले के **वधम्**=वध को **अप**=हमसे दूर कीजिए। हम किसी के आयुष्यनाश की वृत्तिवाले न हों। २. हे प्रभो! आप हमारे लिए **महत् शर्म**=महनीय सुख को **यच्छ**=प्राप्त कराइए और **वधम्**=वध को **वरीयः यावय**=हमसे बहुत दूर कीजिए। हमारे मन में किसी के वध इत्यादि का विचार ही उत्पन्न न हो। ३. जहाँ राजा का कर्त्तव्य है कि वह राष्ट्र की अन्तः-बाह्य शत्रुओं से रक्षा करे, वहाँ प्रत्येक प्रजावर्ग का भी यह कर्त्तव्य है कि वह अपने जीवन में से द्वेष आदि भावना को दूर करके सारा व्यवहार करे।

भावार्थ—हम अपने मनों से द्वेष व दूसरों के आयुष्य-नाश की भावना व वध को दूर करें और इसप्रकार उत्तम नागरिक बनें।

विशेष—सूक्त के आरम्भ में कहा है कि उत्तम व्यवस्था से राजा राष्ट्र में अभय का सञ्चार करे (१)। लोगों के हृदय भी द्वेष व वध आदि की भावनाओं से रहित हों (४)। यह द्वेष से शून्य होना हमें हृदय की जलन व पीलापन आदि रोगों से बचाएगा। इन रोगों के दूरीकरण के लिए सूर्यकिरणों का भी अत्यधिक महत्त्व है।

२२. [द्वाविंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**सूर्यः, हरिमा, हृद्रोगश्च** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'हृदयरोग व हरिमा' का हरण

अनु सूर्यमुदयतां हृद्द्योतो हरिमा च ते।
गो रोहितस्य वर्णेन तेन त्वा परि दध्मसि॥ १॥

१. रोगों की चिकित्सा करके वृद्धि करनेवाला 'ब्रह्मा' प्रस्तुत सूक्त का ऋषि है (वृहि वृद्धौ)। इस सूक्त का साक्षात् करके यह सूर्य-किरणों के महत्त्व को व्यक्त करते हुए कहता है—**अनुसूर्यम्**=सूर्योदय के साथ **ते**=तेरी **हृद्द्योतः**=हृदय की जलन **च**=तथा **हरिमा**=रक्त की कमी से हो जानेवाला पीलापन **उद् आयताम्**=बाहर चला जाए। सूर्य की किरणों को छाती पर लेने से तेरा हृदय-रोग और पीलिया दोनों ही समाप्त होंगे। २. इसी उद्देश्य से **रोहितस्य**=लाल वर्ण की **गोः**=सूर्य-किरणों के **तेन वर्णेन**=उस लोहित वर्ण से **त्वा**=तुझे **परिदध्मसि**=चारों ओर से धारित करते हैं। 'तेरे चारों ओर सूर्य की लाल किरणें हों' ऐसी व्यवस्था करते हैं। इनका शरीर पर ऐसा प्रभाव होगा कि तेरा हृदयरोग भी दूर होगा और रक्त की कमी भी दूर होकर हरिमा का नाश हो जाएगा।

भावार्थ—प्रातः सूर्य की अरुण वर्ण की किरणों को शरीर पर लेने से हृद्रोग व हरिमा दूर हो जाते हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**सूर्यः, हरिमा, हृद्रोगश्च**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

रोहित-वर्ण परिधारण

परि॑ त्वा॒ रोहि॑तै॒र्वर्णै॑र्दीर्घायु॒त्वाय॑ दध्मसि।
यथा॒ऽयम॑र॒पा अस॒दथो॒ अह॑रितो॒ भुव॑त्॥ २॥

१. **त्वा**=तुझे **रोहितैः वर्णैः**=सूर्य-किरणों के रोहित वर्णों से **परिदध्मसि**=चारों ओर से धारण करते हैं, जिससे **दीर्घायुत्वाय**=दीर्घायु की प्राप्ति हो। प्रातः सूर्याभिमुख होकर ध्यान में बैठने से सूर्य रोगकृमियों का नाश करता है, रुधिर में रक्तता बढ़ाता है और इसप्रकार हमारे दीर्घायुष्य का कारण बनता है। २. एक वैद्य एक रोगी को इसीप्रकार सूर्य की रोहित वर्ण की किरणों से घेरने का प्रयत्न करता है, **यथा**=जिससे कि **अयम्**=यह व्यक्ति **अरपाः**=निर्दोष शरीरवाला **असत्**=हो **अथो**=और निश्चय से **अ-हरितः**=पीलेपन के रोग से रहित **भुवत्**=हो। सूर्य की लाल रंग की किरणें रोगी के शरीर को निर्दोष बनाती हैं और उसके रुधिर की कमी को दूर करके उसे पीलिया के रोग से मुक्त करती हैं।

भावार्थ—सूर्य की रोहित वर्ण की किरणें हमें नीरोग बनाकर दीर्घायुष्य प्राप्त कराएँ।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**सूर्यः, हरिमा, हृद्रोगश्च**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

रोहिणी गौएँ

या रोहि॑णीर्दे॒वत्या॒३ गावो॒ या उ॒त रोहि॑णीः।
रू॒पंरू॑पं॒ वयो॑वयस्ताभि॑ष्ट्वा॒ परि॑ दध्मसि॥ ३॥

१. **यः**=जो **रोहिणीः**=रोहित वर्ण की **देवत्याः**=दिव्य दुग्ध देनेवाली **गावः**=गौएँ हैं, **उत**=और **याः**=जो **रोहिणीः**=रोहित वर्ण की सूर्य-किरणें हैं, **ताभिः**=उनसे **त्वा**=तुझे **रूपं-रूपम्**=रूप-रूप के अनुसार **वयोवयः**=और आयुष्य के अनुसार **परिदध्मसि**=धारण करते हैं। २. यहाँ मन्त्र में प्रातःकालीन सूर्य की अरुण किरणों के साथ रोहित वर्ण की गौओं का उल्लेख भी स्पष्ट है। जहाँ रोहित वर्ण की किरणें अत्यन्त उपयोगी हैं, वहाँ हृद्ररोग व हरिमा को दूर करने में लाल रंग की गौओं के दूध का उपयोग भी अत्यधिक महत्त्व रखता है। यही गौ '**कपिला**' कहलाती है और ऋषि-आश्रमों के साथ साहित्य में सर्वत्र इसका सम्बन्ध दीखता है। इसके दूध में भी वे ही गुण आ जाते हैं जो सूर्य की अरुण किरणों में होते हैं। ३. '**रुपंरूपम्**' ये शब्द 'त्वचा का रंग गोरा है या कालिमा को लिए हुए' इस बात का संकेत कर रहे हैं और स्पष्ट है कि

त्वचा के रंग-भेद से किरणों का कम या अधिक देर तक सेवन अभीष्ट होता है। गौर वर्ण अधिक देर तक किरणों को सहन नहीं कर सकता। इसीप्रकार '**वयोवयः**' शब्द आयुष्य-भेद से अधिक व कम देर तक सूर्य-किरणों के सेवन का संकेत करते हैं। छोटा बच्चा कम देर तक सहन करेगा तो एक युवक अधिक देर तक।

भावार्थ—सूर्य की रोहित किरणों व रोहिणी गौओं के दूध का आयुष्य व शक्ति के अनुसार सेवन द्वारा हम नीरोग हों।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**सूर्यः, हरिमा, हृद्रोगश्च**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

हरिमा का उचित स्थान (तोते व पौधे)

शुकेषु ते हरिमाणं रोपणाकासु दध्मसि। अथो हारिद्रवेषु ते हरिमाणं नि दध्मसि॥ ४॥

१. गतमन्त्रों के अनुसार सूर्य-किरणों व कपिल वर्ण की गौओं के दूध के प्रयोग से रुधिर की कमी के कारण होनेवाली पीतिमा (हरिमा) को दूर करके मनुष्य को नीरोग बनाने का विधान है। यहाँ वेद काव्यमय भाषा में कहता है—**ते हरिमाणम्**=तेरी इस हरिमा को **शुकेषु**=तोतों में **दध्मसि**=धारण करते हैं और **रोपणाकासु**=ओषधिविशेषों में धारण करते हैं। तोतों में और इन ओषधियों में यह हरिमा रोगरूप से प्रतीत नहीं होती, अतः इस हरिमा का स्थान इनमें ही है। अपने स्थान पर यह शोभा का कारण बनती है। मानव-शरीर में यह रोग की सूचना देती है। २. **अथ उ**=और अब **ते हरिमाणम्**=तुझमें रहनेवाली इस हरिमा को तुझसे दूर करके **हारिद्रवेषु**=कदम्ब के वृक्षों में **निदध्मसि**=निश्चय से स्थापित करते हैं। यह हरिमा इन वृक्षों की शोभा-वृद्धि का कारण बनती है।

भावार्थ—हरिमा तोतों में, रोपणा नामक ओषधिविशेषों में तथा कदम्ब-वृक्षों में शोभा का कारण होती है, अतः इसे वहीं स्थापित करते हैं। मानव-शरीर इसका स्थान नहीं है, वहाँ तो यह रोग की सूचना देती है।

विशेष—यह सूक्त सूर्योदय के समय की अरुण किरणों व कपिला गौओं के दूध के प्रयोग से हृद्रोग व हरिमा के दूर करने का प्रतिपादन कर रहा है। इसीप्रकार अगला सूक्त श्वेतकुष्ठ के दूरीकरण के लिए औषध-विशेष का प्रतिपादन करता है—

२३. [त्रयोविंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**वनस्पतयः (रामा-कृष्णा-असिक्नी च)**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

रामा-कृष्णा-असिक्नी

नक्तञ्जातास्योषधे रामे कृष्णे असिक्नि च।
इदं रजनि रजय किलासं पलितं च यत्॥ १॥

१. हे **ओषधे**=शरीर के दोषों का दहन करनेवाली ओषधे! तू **नक्तं जाता असि**=रात्रि में उत्पन्न हुई है। ओषधियों का ईश चन्द्रमा है। वह रात्रि में ओषधियों में रस का सञ्चार करता है। इसी दृष्टि से यहाँ यह प्रतिपादन हुआ है 'हे ओषधे! तू रात्रि में विकसित हुई है'। २. **रामे कृष्णे असिक्नि च**=रामा, कृष्णा व असिक्नी—इन नामों से तेरा सम्बोधन होता है। तू शरीर को फिर से सौन्दर्य प्रदान करनेवाली होने से 'रामा' है, शरीर के दोषों को बाहर खेंच लाने से तू 'कृष्णा' है और श्वेत धब्बे को दूर कर देने से तू 'असिक्नी' है। ३. हे **रजनि**=शरीर को पुनः ठीक रंग प्रदान करनेवाली ओषधे! तू **यत्**=जो **किलासम्**=श्वेतकुष्ठ का धब्बा है **च**=और **पलितम्**=त्वचा में आ जानेवाली सफेदी है, **इदम्**=इसे **रजय**=फिर से रंग दे।

भावार्थ—रामा, कृष्णा व असिक्नी नामक औषध के प्रयोग से श्वेत कुष्ठ दूर हो जाता है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**वनस्पतयः (रामा-कृष्णा-असिक्नी च)**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

किलास व पलित का नाश

किलासं च पलितं च निरितो नाशया पृषत्।
आ त्वा स्वो विशतां वर्णः परा शुक्लानि पातय॥ २॥

१. **किलासम्**=श्वेतकुष्ठ के धब्बों को **च**=और **पलितम्**=त्वचा की व्यापक सफेदी को **च**=तथा **पृषत्**=अन्य धब्बों को **इतः**=यहाँ से **निः नाशय**=बाहर कर दे (णश अदर्शने)। त्वचा में इन किलास, पलित व पृषतों का दर्शन न हो। २. हे रोगाक्रान्त पुरुष! इस औषध के प्रयोग से **त्वा**=तेरी त्वचा में **स्वः वर्णः**=अपना असली वर्ण **आविशताम्**=सर्वत्र प्राप्त हो जाए। तू **शुक्लानि**=जहाँ-तहाँ हो जानेवाले इन सफ़ेद धब्बों को **परा पातय**=दूर भगा दे।

भावार्थ—औषध-प्रयोग से त्वचा को पुनः अपना असली रूप प्राप्त हो जाता है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**वनस्पतयः (रामा-कृष्णा-असिक्नी च)**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

असिक्नी का असिक्नीपन

असितं ते प्रलयनमास्थानमसितं तव। असिक्न्यस्योषधे निरितो नाशया पृषत्॥ ३॥

१. हे **ओषधे**=दोष-दहन करनेवाली ओषधे! **ते**=तेरा **प्रलयनम्**=लय व विनाश भी **असितम्**=काला है, अर्थात् तुझे जला देने पर तेरी भस्म भी सामान्यता अधिक काले वर्ण की होती है। **तव आस्थानम् असितम्**=तेरा स्थिति-स्थान भी काला है। सामान्यतः काली मिट्टी में ही यह पनपती है। २. हे ओषधे! तू सचमुच **असिक्नी असि**=काली है। **इतः**=यहाँ से, इस रोगी पुरुष की त्वचा से **पृषत्**=इन धब्बों को **निः नाशय**=सुदूर नष्ट कर दे।

भावार्थ—असिक्नी का असिकनीत्व इसी में हैं कि वह त्वचा के सफ़ेद धब्बे को दूर कर दे।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**वनस्पतयः (रामा-कृष्णा-असिक्नी च)**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

ज्ञानरूप महौषध

अस्थिजस्य किलासस्य तनूजस्य च यत्त्वचि।
दूष्या कृतस्य ब्रह्मणा लक्ष्म श्वेतमनीनशम्॥ ४॥

१. यदि कुष्ठ का प्रभाव अस्थि तक पहुँच गया है तो यह 'अस्थिज किलास' कहलाएगा। यदि अभी उसका प्रभाव गहराई तक नहीं गया तो वह 'तनूज' कहलाता है। ये दोनों आहार-व्यवहार के दोषों के कारण ही उत्पन्न होते हैं, अतः कहते हैं कि—**अस्थिजस्य किलासस्य**=हड्डी तक पहुँचे हुए कुष्ठ का **च**=और **तनूजस्य**=शरीर में उपरले पृष्ठ पर उत्पन्न हुए-हुए कुष्ठ का **यत्**=जो **त्वचि**=त्वचा में **श्वेतं लक्ष्म**=श्वेत धब्बा है उसे तथा **दूष्या कृतस्य**=दूषित आहार-विहार के द्वारा उत्पादित किलास को **ब्रह्मणा**=ज्ञान के द्वारा **अनीनशम्**=मैं नष्ट करता हूँ। २. ज्ञान के अभाव में ही आहार-व्यवहार के दोष उत्पन्न होते हैं और उन दोषों से यह कुष्ठ-विकार उत्पन्न होता है। ज्ञान के द्वारा आहार-व्यवहार की शुद्धि होने पर इन विकारों की आंशका जाती रहती है।

भावार्थ—ज्ञान के द्वारा आहार-व्यवहार को शुद्ध करके हम कुष्ठ आदि विकारों को उत्पन्न न होने दें।

विशेष—इस सूक्त का ही विषय अगले सूक्त में भी प्रतिपादित हो रहा है। इस सूक्त में 'ब्रह्मा' आसुरी वनस्पति के प्रयोग से कुष्ठ को दूर करते हैं—

२४. [चतुर्विंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आसुरी वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

आसुरी (ओषधिविशेष)

सुपर्णो जातः प्रथमस्तस्य त्वं पित्तमासिथ।
तदासुरी युधा जिता रूपं चक्रे वनस्पतीन्॥ १ ॥

१. **सुपर्णः**=सूर्य **प्रथमः जातः**=सबसे प्रथम प्रादुर्भूत हुआ। यह सूर्य अपनी किरणों से प्राणों का सञ्चार करता हुआ सबका पालन करता है, अतः 'सुपर्ण' है। इस सुपर्ण के पित्त को आसुरी ग्रहण करती है। सूर्य की उष्णता का तत्त्व जो रोग का दहन कर देता है, उसे ही यहाँ 'पित्त' कहा गया है। कुष्ठ 'कफ-वात' का विकार है, यह पित्त उसे दूर करनेवाला होता है। हे आसुरी ओषधे! **त्वम्**=तू **तस्य**=उस 'सुपर्ण' की—सूर्य की **पित्तम्**=पित्त **आसिथ**=है, उसकी पित्त को लिये हुए है। २. **तत्**=सूर्य की पित्त को लिये हुए होने के कारण **आसुरी**=प्राणशक्ति का सञ्चार करनेवाली यह ओषधि **युधा**=रोगों के साथ युद्ध के द्वारा **जिता** (**जितम् अस्या अस्ति इति**)=विजयवाली होती है। युद्ध के द्वारा रोगों पर विजय प्राप्त करके यह **वनस्पतीन्**=(An ascetic=तपस्वी) तपस्वियों को **रूपं चक्रे**=फिर से प्रशस्त रूपवाला बना देती है। ३. वनस्पति शब्द यहाँ शरीर के पति, अर्थात् जितेन्द्रिय का वाचक है। आसुरी ओषधि के प्रयोग के साथ तपस्वी जीवन भी नितान्त आवश्यक है। भोजनाच्छादन का कठोर नियम किये बिना यह ओषधि कुष्ठ का निवारण करके सुरूप प्रदान करने में समर्थ नहीं। वनस्पतियों—तपस्वियों को यह ओषधि रूपवाला कर सकती है।

भावार्थ—आसुरी ओषधि में सूर्य का पित्तांश है। इससे वह तपस्वी को कुष्ठ का निवारण करके सुरूप प्रदान करती है।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आसुरी वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**निचृत्पथ्यापङ्क्तिः** ॥

त्वचा की सरूपता

आसुरी चक्रे प्रथमेदं किलासभेषजमिदं किलासनाशनम्।
अनीनशत् किलासं सरूपामकरत्त्वचम्॥ २ ॥

१. **प्रथमा**=अत्यन्त फैलनेवाली **आसुरी**=इस आसुरी ओषधि ने **इदम्**=इस **किलासभेषजम्**=श्वेतकुष्ठ के धब्बों की औषध को **चक्रे**=बनाया है। **इदम्**=यह औषध **किलासनाशनम्**=श्वेतकुष्ठ का नाश करनेवाला है। २. नाश करनेवाला क्या, इसने तो **किलासम्**=किलास को **अनीनशत्**=नष्ट कर ही दिया और **त्वचं सरूपाम् अकरत्**=सारी त्वचा को समान रूपवाला कर दिया है। ३. यहाँ मन्त्र का उत्तरार्ध साहित्य की अतिशयोक्ति अलंकारपूर्ण शैली में कहा गया है। इससे ओषधि के महत्त्व पर प्रकाश पड़ता है। यह ओषधि किलास को शीघ्र दूर करनेवाली है, यही भाव अभिप्रेत है।

भावार्थ—आसुरी ओषधि से बनाया गया भेषज किलास को शीघ्र दूर करनेवाला है।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आसुरी वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

आसुरी के माता व पिता

सरूपा नाम ते माता सरूपो नाम ते पिता।
सरूपकृत्त्वमोषधे सा सरूपमिदं कृधि॥ ३ ॥

१. सब ओषधियों की माता यह पृथिवी है, हे आसुरी! **ते माता**=तेरी मातृस्थानापन्न यह पृथिवी **सरूपा नाम**=सरूपा नामवाली है। मिट्टी का लेप भी त्वग्दोष को दूर करके स्वरूपता लाने में सहायक होता है। २. इसीप्रकार सब ओषधियों का पिता द्युलोक है। यह वृष्टि व सूर्य-किरणों द्वारा इन ओषधियों को जन्म देनेवाला व पालन करनेवाला है। वह **ते पिता**=तेरा द्युलोकरूपी यह पिता भी **सरूपः नाम**=सरूप नामवाला है। यह भी त्वचा को सरूपता देनेवाला है। सूर्य-किरणों को त्वचा पर लेना तथा वृष्टिजलों में स्नान—ये दोनों ही बातें त्वग्दोष को दूर करनेवाली हैं। ३. हे **ओषधे**=त्वचा के दोष का दहन करनेवाली आसुरि! **त्वम्**=तू भी इस पृथिवी व द्युलोकरूप माता-पिता से उत्पन्न होकर **सरूपकृत्**=सारी त्वचा को समान रूपवाला करनेवाली है। **सा**=वह तू **इदं सरूपं कृधि**=हमारे इस शरीर को सरूप बना दे।

भावार्थ—(क) मिट्टी का लेप, (ख) सूर्य-किरणों का सम्पर्क, (ग) वृष्टिजल में स्नान तथा (घ) आसुरी ओषधि का प्रयोग—ये चार बातें अवश्य कुष्ठ रोग को दूर कर सरूपता प्राप्त कराती हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आसुरी वनस्पतिः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

श्यामा

श्यामा सरूपङ्करणी पृथिव्या अध्युद्भृता। इदमू षु प्र साधय पुना रूपाणि कल्पय॥ ४॥

१. त्वचा में रंग देनेवाले तत्त्व के निकल जाने से ही कुष्ठ रोग उत्पन्न होता है। इस रंगदायी तत्त्व (colouring matter) को फिर से शरीर में प्राप्त करा देनेवाली यह **श्यामा**=श्यामता देनेवाली ओषधि **सरूपं करणी**=समानरूपता करनेवाली है। २. यह ओषधि **पृथिव्याः**=पृथिवी से **उद्भृता**=बाहर धारण की गई है। 'पृथिवी से बाहर निकालना' यह भाव स्पष्ट कर रहा है कि यह कन्द आदि के रूप की कोई ओषधि है। ३. हे श्यामा! तू **इदम्**=इस हमारे शरीर को **उ**=निश्चय से **सुप्रसाधय**=अच्छी प्रकार अलंकृत कर दे, रोग को दूर करके इसे ठीक सिद्ध कर दे। **पुनः**=फिर **रूपाणि कल्पय**=तू त्वचा में रूप बना दे। जो रङ्ग देनेवाला तत्त्व कम हो गया था, उसकी पुनः स्थापना कर दे।

भावार्थ—'श्यामा' ओषधि रंग देनेवाले तत्त्व को उपस्थित करके त्वचा को फिर से सरूप करनेवाली है।

विशेष—अगले सूक्त का विषय भी 'तक्मा'=ज्वर है। इसे अपने से दूर रखनेवाला व्यक्ति 'अङ्गिरा'=सब अङ्गों में रसवाला है। यह ज्वर को परिपक्व करके दूर करनेवाला होने से 'भृगु' है (भ्रस्ज पाके)। यह 'भृगु अङ्गिरा' ही अगले सूक्त का ऋषि है। यह प्रार्थना करता है—

२५. [पञ्चविंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः**॥ देवता—**यक्ष्मनाशनोऽग्निः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

ज्वर का मूलकारण (वासना द्वारा शक्तिनाश)

यद॒ग्निरापो॒ अद॑हत्प्र॒विश्य॒ यत्राकृ॑ण्वन्धर्म॒धृतो॒ नमां॑सि।
तत्र॑ त आहुः पर॒मं ज॒नित्रं॒ स नः॑ संवि॒द्वान्परि॑ वृङ्ग्धि तक्मन्॥ १॥

१. **यत्र**=जहाँ—हृदयदेश में **धर्मधृतः**=धर्म को धारण करनेवाले लोग **नमांसि**=प्रभु के प्रति नमन की भावनाओं को **अकृण्वन्**=करते हैं, वहाँ हृदय में **यत्**=जब **प्रविश्य**=प्रवेश करके **अग्निः**=कामवासना की अग्नि **आपः अदहत्**=वीर्यरूप जलों को जला देती है, **तत्र**=वहाँ **ते**=तेरे (रोग के) **परमं जनित्रम्**=सबसे महत्त्वपूर्ण उत्पत्ति स्थान को **आहुः**=कहते हैं। चाहिए तो यह

कि हृदय में हम सदा प्रभु का स्मरण करें, परन्तु यदि ग़लती से प्रभु-स्मरण को छोड़, हम वासनाओं के शिकार होने लगते हैं तो वीर्य का अपव्यय होता है। इस वीर्य को ही रोगों को कम्पित करना होता है। उसका अपव्यय होने पर रोगों को पनपने का अवसर मिल जाता है। २. हे **तक्मन्**=तंग करनेवाले ज्वर! **सः**=वह तू **नः**=हमें **संविद्वान्**=सम्यक्तया जानता हुआ कि हम हृदय में प्रभु-स्मरण करनेवाले हैं, हम कामाग्नि को वहाँ प्रवेश का अवसर नहीं देते, **परिवृङ्ग्धि**=सब प्रकार से छोड़नेवाला हो। किसी अन्य व्यक्ति को तू अपना शिकार बना जोकि वासनात्मक जीवनवाला बन गया हो।

भावार्थ—ज्वर का मूलकारण हृदय में वासना के आने से शक्ति का क्षय है, अतः ज्वर से बचने के लिए हम हृदय में सदा प्रभुस्मरण की भावना को स्थिर रक्खें।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**यक्ष्मनाशनोऽग्निः** ॥ छन्दः—**विराड्गर्भात्रिष्टुप्** ॥

ज्वर के परिणाम

यद्यर्चिर्यदि वा ऽसि शोचिः शकल्येषि यदि वा ते जनित्रम्।
हूडुर्नामासि हरितस्य देव स नः संविद्वान्परि वृङ्ग्धि तक्मन्॥ २॥

१. हे **तक्मन्**=ज्वर! **यदि**=यदि (क) **अर्चिः असि**=तू ज्वालारूप है, अर्थात् यदि तेरे कारण शरीर में ताप की लपटें-सी उठती प्रतीत होती हैं, (ख) **यदि वा**=अथवा **शोचिः असि**=तेरे कारण हृदय में कुछ हतोत्साहता-(depression)-सा प्रतीत होता है, (ग) **यदि वा**=अथवा **ते जनित्रम्**=तेरा प्रादुर्भाव ऐसा है कि **शकली एषि**=तू अङ्गों को तोड़ता हुआ आता है, (घ) अथवा **हूडुः नाम असि**=कँपकँपी लानेवाला होने से तू हूडु नामवाला है (ङ) अथवा **हरितस्य देव**=तू ख़ून को सुखाकर पीलापन (jaundice) देनेवाला है, जैसा भी तू है **सः**=वह तू **नः**=हमें **संविद्वान्**=सम्यक्तया प्रभु-भक्ति की भावनावाला जानता हुआ **परिवृङ्ग्धि**=सब प्रकार से छोड़नेवाला हो। २. ज्वर के ये विविध परिणाम तभी भोगने पड़ते हैं जब हम प्रभु-भक्ति को छोड़कर अपने जीवन में वासना को स्थान देते हैं।

भावार्थ—'ताप, हतोत्साह, अङ्गों का टूटना, कँपकँपी, रुधिर की कमी'—ये सब ज्वर के परिणाम हैं, इनसे बचने के लिए आवश्यक है कि हम हृदय में वासनाओं को स्थान न दें।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**यक्ष्मनाशनोऽग्निः** ॥ छन्दः—**विराड्गर्भात्रिष्टुप्** ॥

ज्वर के अन्य तीन कारण

यदि शोको यदि वाभिऽशोको यदि वा राज्ञो वरुणस्यासि पुत्रः।
हूडुर्नामासि हरितस्य देव स नः संविद्वान्परि वृङ्ग्धि तक्मन्॥ ३॥

१. हे **तक्मन्**=ज्वर! **यदि**=यदि तू **शोकः असि**=बाह्य सम्पत्ति व सन्तान के नाश से होनेवाले शोक का परिणाम है, **यदि वा**=अथवा **अभिशोकः असि**=किन्हीं आन्तरिक व बाह्य दोनों कारणों से उत्पन्न होनेवाले शोक का परिणाम है, **यदि वा**=अथवा तू **वरुणस्य राज्ञः पुत्रः असि**=वरुण राजा का पुत्र है तो तू **हूडुः नाम असि**=कँपकँपी को लानेवाला होने से हुडु नामवाला है। तू **हरितस्य देव**=पीलिया को देनेवाला है। **सः**=वह तू **नः**=हमें **संविद्वान्**=सम्यक्तया जानता हुआ कि हम प्रभु-भक्त होने से वासना से दूर हैं, **परिवृङ्ग्धि**=सब प्रकार से छोड़नेवाला हो। २. शोक के कारण तो ज्वर उत्पन्न हो ही जाता है। यहाँ ज्वर को वरुण राजा का पुत्र इसलिए कहा है कि वरुण जलाधिपति है। यह जल इधर-उधर गढ़ों में ठहरता है, तो मच्छरों की उत्पत्ति का कारण बनता है। ये मच्छर ज्वर को फैलानेवाले होते हैं, अतः ज्वर से बचने के लिए जहाँ

शोक से बचना है, वहाँ मच्छरों की उत्पत्ति को रोकने की भी व्यवस्था करनी चाहिए। इस व्यवस्थापक को ही आजकल की भाषा में सैनिटेशन का प्रबन्ध कहते हैं।

भावार्थ—ज्वर शोक से उत्पन्न होता है, अतः संसार-स्वरूप का चिन्तन करते हुए शोक नहीं करना है तथा ऐसी व्यवस्था भी वाञ्छनीय है कि पानी आदि के ठहरे रहने से मच्छर उत्पन्न न हो पाएँ।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**यक्ष्मनाशनोऽग्निः** ॥ छन्दः—**पुरोऽनुष्टुप्** ॥

विविध ज्वर

नमः शीताय तक्मने नमो रूराय शोचिषे कृणोमि।
यो अन्येद्युरुभयद्युरभ्येति तृतीयकाय नमो अस्तु तक्मने॥ ४॥

१. **शीताय तक्मने नमः**=हम शीतज्वर के लिए नमस्कार करते हैं, इससे दूर से ही बचने का प्रयत्न करते हैं। २. **रूराय शोचिषे**=गर्जना करनेवाले सन्तापकारी बुखार के लिए **नमः कृणोमि**=मैं नमस्कार करता हूँ। वह ज्वर, जिसमें गर्मी की अधिकता से मनुष्य बड़बड़ाने लगता है, 'रूरशोचिः' कहा गया है। मैं इससे बचने क लिए प्रार्थना करता हूँ। ३. **यः**=जो **अन्येद्युः**=एक दिन छोड़कर आता है, **उभयद्युः अभ्येति**=दो-दो दिन करके आता है। दो दिन आया, फिर एक दिन न आकर दो दिन आता है—यह ज्वर 'उभयद्यु' कहलाता है। **तृतीयकाय**=जो दो-दो दिन छोड़कर तीसरे दिन आता है, उस **तक्मने**=ज्वर के लिए **नमः अस्तु**=नमस्कार हो, अर्थात् मैं अन्येद्यु, उभयद्यु व तृतीयक ज्वरों से बचा रहूँ। ४. इन सब ज्वरों के लिए नमस्कार हो, अर्थात् इनसे मैं बचा रहूँ। 'नमः अस्तु' इन शब्दों में यह भाव भी अन्तर्निहित प्रतीत होता है कि मैं प्रभु के प्रति नतमस्तक होता हुआ इन ज्वरों का शिकार न होऊँ। प्रभु-भजन की वृत्ति भी मनुष्य के व्यवहार में उन वाञ्छनीय परिवर्तनों को उत्पन्न करती है जो ज्वरादि से दूर रहने में सहायक होते हैं।

भावार्थ—प्रभु-भक्त जीवन की दिशा को ठीक रखने के कारण ज्वरादि से बचा रहता है।

विशेष—इस सूक्त में ज्वररूप आध्यात्मिक कष्ट से बचने का संकेत है। अब ब्रह्मा बनकर आधिदैविक कष्टों से बचने का उल्लेख होता है—

२६. [षड्विंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**इन्द्रादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

बिजली गिरना व ओले पड़ना

आरेऽसावस्मदस्तु हेतिर्देवासो असत्। आरे अश्मा यमस्यथ॥ १॥

१. उल्का आदि का गिरना अथवा बिजली का गिरना ही 'देवों के वज्र का गिरना' कहलाता है। **असौ**=वह **हेतिः**=वज्रपात **अस्मत्**=हमसे **आरे अस्तु**=दूर हो। बिजली आदि के गिरने के आधिदैविक प्रकोप से हम बचे रहें। २. हे **देवासः**=देवो! **यम्**=जिसे **अस्यथ**=आप फेंकते हो वह **अश्मा**=पत्थर **आरे असत्**=हमसे दूर रहें। ओलों के रूप में ये पत्थर पड़ते हैं और सम्पूर्ण पकी खेती की हानि हो जाती है। यह भी एक प्रबल आधिदैविक आपत्ति है। ३. देवों से प्रार्थना करते हैं कि ये आपत्तियाँ हमसे दूर ही रहें। वस्तुतः इन्हें दूर रखने का उपाय यही है कि हम भी 'देव' बनें। देव बनकर ही आधिदैविक कष्टों को दूर रक्खा जा सकता है। देव बनने का स्थूलभाव **'देवो दानाद्वा दीपनाद्वा द्योतनाद्वा'** इन शब्दों में सुव्यक्त है कि हम (क) देनेवाले बनें, (ख) ज्ञान की ज्योति से अपने को दीप्त करें, (ग) औरों के लिए ज्ञान-ज्योति देनेवाले हो।

भावार्थ—देव बनकर हम बिजली गिरने व ओले आदि पड़ने के आधिदैविक कष्टों से बच सकते हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**इन्द्रादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिपदासाम्नीत्रिष्टुप् (एकावसाना)** ॥

दिव्य भावों के साथ मित्रता

सखासावस्मभ्यमस्तु रातिः सखेन्द्रो भगः सविता चित्रराधाः ॥ २ ॥

१. **अस्मभ्यम्**=हमारे लिए **असौ**=वह **रातिः**=दान देने की भावना **सखा अस्तु**=मित्र हो। अदानशीलता ही सबसे बड़ा शत्रु है, यही देव-विपरीत भाव है। देव देते हैं, असुर हड़प कर जाते हैं। दान यज्ञ की चरम सीमा है। यह लोभ के मूल पर कुठाराघात करता है और इसप्रकार व्यसन-वृक्ष को उखाड़ फेंकता है। २. **इन्द्रः सखा**=वह परमैश्वर्यशाली प्रभु हमारा सखा हो। इन्द्र शब्द जितेन्द्रियता की सूचना देता है। जितेन्द्रियता ही परमेश्वर्यता का कारण बनती है। जितेन्द्रियता ही वस्तुतः उस वृत्त का केन्द्र है, जिसकी परिधि सब सद्गुणों से बनी हुई है। ३. **भगः**=भजनीय धन हमारा मित्र हो। वही धन भजनीय है जो औरों के साथ बाँटकर खाया जाता है। केवल अपने लिए विनियुक्त होनेवाला धन निधन का कारण बनता है। यही भाव 'यज्ञशेष को अमृत' नाम देकर व्यक्त किया गया है। ४. **सविता**=यह निर्माण की देवता है। जगदुत्पादक प्रभु 'सविता' हैं। मैं भी निर्माण की वृत्तिवाला बनकर आधिदैविक कष्टों से ऊपर उठूँ। जिस राष्ट्र में निर्माणरुचि जनता का बाहुल्य होता है, वह आधिदैविक कष्टों से बचा रहता है। ५. **चित्रराधाः**=ज्ञानरूप अद्भुत सम्पत्तिवाला प्रभु हमारा मित्र हो। ज्ञान को ही वास्तविक सम्पत्ति समझने पर हमारी वृत्ति उत्कृष्ट होगी और हम आधिदैविक कष्टों के शिकार न होंगे।

भावार्थ—'दानवृत्ति, जितेन्द्रियता, मिलकर सेवनीय धन, निर्माणरुचिता, ज्ञान को ही सम्पत्ति समझना'—ये बातें राष्ट्र को आधिदैविक कष्टों से बचाती हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**इन्द्रादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

मरुतों की कल्याणकारिता

यूयं नः प्रवतो नपान्मरुतः सूर्यत्वचसः। शर्म यच्छाथ सप्रथाः ॥ ३ ॥

१. हे **मरुतः**=प्राणो! **यूयम्**=आप **नः**=हमें **प्रवतः नपात्**=उच्च स्थान से न गिरने देनेवाले हो। प्राणसाधना हमें उच्च स्थिति में रखती है। इससे हममें दैवीभावों की वृद्धि होती है। केवल दैवीभावों का वर्धन ही नहीं, ये मरुत् **सूर्यत्वचसः**=सूर्य के समान ज्योतिर्मय त्वचा देनेवाले हैं। इनकी साधना से मनुष्य का स्वास्थ्य ऐसा उत्तम बनता है कि उसकी त्वचा सूर्य की भाँति चमकनेवाली बनती है। २. **'सूर्यत्वचसः'** शब्द का अर्थ यह भी हो सकता है कि ये मरुत् सूर्य को **त्वच्**=(touch) छूनेवाली हैं, अर्थात् प्राणसाधना हमें सूर्यमण्डल का भेदन करके ब्रह्मलोक में ले-जानेवाली होती है। ३. हे मरुतो! आप **सप्रथाः**=विस्तृत **शर्म**=सुख **यच्छाथ**=दो। ये प्राण हमारे शरीरों को नीरोग, मनों को निर्मल तथा मस्तिष्क को दीप्त बनाकर विस्तृत सुखों को देनेवाले होते हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना हमें ऊपर-और-ऊपर ले-चलती है। यह हमें सूर्यमण्डल का भेदन करनेवाला बनाती है और विस्तृत सुख प्रदान करती है।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**इन्द्रादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**पादनिचृद्गायत्री (एकावसाना)** ॥

अपना व सन्तानों का स्वास्थ्य

सुषूदत मृडत मृडया नस्तनूभ्यो मयस्तोकेभ्यस्कृधि ॥ ४ ॥

१. हे प्राणो! **सुषूदत**=(षद् क्षरणे) आप हमारे सब मलों का क्षरण—दूर करनेवाले होओ, शरीर के मलों को दूर करके हमें स्वस्थ बनाओ। मनों की मैल को दूर करके उन्हें निर्मल बनाओ तथा मस्तिष्क की कुण्ठता को दूर करके हमें तीव्र बुद्धि बनाओ। ऐसा बनाकर **मृडत**=हमें सुखी करो। वास्तविक सुख 'शरीर, मन व मस्तिष्क' तीनों के नैर्मल्य में ही है। २. **नः तनूभ्यः**=हमारे शरीरों के लिए तो **मृडय**=सुख प्रदान करो ही **तोकेभ्यः**=हमारी सन्तानों के लिए भी **मयः कृधि**=कल्याण व नीरोगता कीजिए। हमारे शरीर स्वस्थ होंगे तो हमारे सन्तानों के शरीरों पर उनका प्रभाव पड़ेगा ही।

भावार्थ—प्राणसाधना से नैर्मल्य को सिद्ध करके हम अपने व सन्तानों के स्वास्थ्य को प्राप्त करनेवाले हों।

विशेष—संक्षेप में सूक्त का भाव यही है कि प्राणसाधना से नैर्मल्य को सिद्ध करके, देव बनकर, हम आधिदैविक आपत्तियों से बचें। यह प्राणसाधना हमें चित्तवृत्ति-निरोध के द्वारा 'अथर्वा' बनाती है। 'अथ अर्वाङ्' हम अन्तर्मुखी वृत्तिवाले बनते हैं, साथ ही हममें वीरता का संचार होता है—

२७. [सप्तविंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा (स्वस्त्ययनकामः)**॥ देवता—**इन्द्राणी**॥ छन्दः—**पथ्यापङ्क्तिः**॥

आवरण का हटाना

अमूः पारे पृदाक्व स्त्रिषप्ता निर्जरायवः।
तासां जरायुभिर्वयमक्ष्या३वपि व्ययामस्यघायोः परिपन्थिनः॥ १॥

१. प्रस्तुत सूक्त की देवता 'इन्द्राणी' है। यह इन्द्र की शक्ति है। 'इन्द्र' इन्द्रियों का अधिष्ठाता है। जितेन्द्रिय पुरुष ही तो शक्ति का पति बनता है। इसकी **अमूः**=ये **त्रिषप्ताः**='तीन+सात' दस इन्द्रियाँ **पृदाक्वः पारे**=सर्पिणी से दूर होती हैं। सर्पिणी यहाँ कुटिलता की प्रतीक है। इसकी इन्द्रियाँ कुटिल वृत्तिवाली नहीं होतीं। **निर्जरायवः**=ये वासना के आवरण से रहित होती हैं। वासना के आवरण से आवृत इन्द्रियाँ सदा कुटिल मार्ग पर जानेवाली होती हैं। २. **तासाम्**=इन इन्द्रियों की **जरायुभिः**=आवरणभूत वासनाओं से **वयम्**=हम **अघायोः**=पाप की कामनावाले **परिपन्थिनः**=औरों के मार्ग में बाधक चोर आदि की **अक्ष्यौ**=आँखों को **अपिव्ययामसि**=ढकते हैं। वस्तुतः इन वासनारूप आवरणों के कारण ही तो वे 'अघायु व परिपन्थी' बने हैं। इन आवरणों के हट जाने पर मनुष्य धर्मप्रवण व परहित की कामनावाला होता है।

भावार्थ—हम इन्द्रियों की कुटिलवृत्ति को दूर करें, शक्ति के लिए वासनारूप आवरण को हटाएँ। यह आवरण ही हमें अघायु व परिपन्थी बनाता है।

ऋषिः—**अथर्वा (स्वस्त्ययनकामः)**॥ देवता—**इन्द्राणी**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

प्रणवरूप धनुष का धारण

विषूच्येतु कृन्तती पिनाकमिव बिभ्रती। विष्वक्पुनर्भुवा मनोऽसमृद्धा अघायवः॥ २॥

१. यह इन्द्राणी=इन्द्र की शक्तिरूप पत्नी **पिनाकम् इव बिभ्रती**=प्रणवरूप धनुष को ही मानो धारण करती हुई, 'ओम्' के जप से प्रभु का स्मरण करती हुई, **कृन्तती**=इस धनुष द्वारा वासनाओं को काटती हुई **विषूची**=विविध दिशाओं में जानेवाली होकर **एतु**=गति करे, संसार में विचरे, परन्तु प्रभु-स्मरण के साथ विचरने के द्वारा यह संसार में उलझे नहीं। २. 'ओम्' का जप न करने पर मनुष्य संसर में आसक्त होता ही है। इस आसक्तिवाली स्त्री विधवा होकर

फिर विवाह की ओर झुकती है। इस **पुनर्भुवाः**=दुबारा विवाहित होनेवाली विधवा का **मनः**=मन **विश्वक्**=संसार के विविध विषयों की ओर ही जानेवाला होता है। इस वैषयिक वृत्तिवाले **अघायवः**=पाप की ओर झुकाववाले पुरुष **असमृद्धाः**=कभी भी वास्तविक ऐश्वर्य को पानेवाले नहीं होते।

भावार्थ—हम प्रणवरूप धनुष को लेकर वासनाओं को काट डालें। वैषयिक वृत्ति तो हमें भटकाएगी और वास्तविक समृद्धि से दूर रक्खेगी।

ऋषिः—**अथर्वा (स्वस्त्ययनकामः)**॥ देवता—**इन्द्राणी**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

वासनाओं का विनाश

न बहवः समशकन्नार्भका अभि दाधृषुः।
वेणोरुद्गाइवाभितोऽसमृद्धा अघायवः॥ ३॥

१. **बहवः**=संसार के असंख्य विषय **न समशकन्**=हमें पराजित करने में समर्थ न हों। **अर्भकाः**=अंकुररूप में होनेवाली वासनाएँ भी **न अभिदाधृषुः**=हमारा धर्षण न करें। वासनाओं को हम मूल में नष्ट करनेवाले बनें (Nip in the bud), इन्हें अंकुरित ही न होने दें। अंकुरित हो भी जाएँ तो उन्हें पुष्पित व फलित न होने दें। २. **वेणोः**=बाँस के **उद्गाः इव**=पुरोडाशों के समान **अघायवः**=दूसरों का अशुभ चाहनेवाले **अभितः**=दोनों ओर से, **असमृद्धाः**=कभी समृद्ध नहीं होते। बाँस की आहुति नहीं दी जाती। यह आहुति असमृद्ध मानी जाती है। इसमें वायु की पवित्रता न होकर अपवित्रता अधिक होती है और चटचटा शब्द होकर फटने का भय भी बना रहता है। इसीप्रकार अघायु पुरुष भी परिवार के लिए असमृद्धि का कारण माना जाता है।

भावार्थ—अघायु का जीवन असमृद्ध होता है। यह स्मरण रखते हुए हम इन अशुभ वृत्तियों का शिकार न हों, इन्हें अंकुरित ही न होने दें, मूल में ही इनका विनाश करें।

ऋषिः—**अथर्वा (स्वस्त्ययनकामः)**॥ देवता—**इन्द्राणी**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

क्रियाशीलता व दान

प्रेतं पादौ प्र स्फुरतं वहतं पृणतो गृहान्।
इन्द्राण्ये॑तु प्रथमाजीतामुषिता पुरः॥ ४॥

१. वासनाओं के विनाश के लिए पाँवों को सम्बोधन करते हुए कहते हैं कि **पादौ**=हे पाँवो! **प्रेतम्**=आगे बढ़ो। **प्रस्फुरतम्**=तुम स्फूर्तिवाले बनो। **पृणतः**=दान देनेवाले **गृहान्**=घरों को **वहतम्**=धारण करनेवाले होओ। वासना-विनाश के लिए ये ही मुख्य बातें हैं—(क) क्रियाशीलता, (ख) दान की वृत्ति। सदा क्रियाशील पुरुष को अशुभ विचार पीड़ित नहीं करते और दानशीलता व्यसनवृक्ष के लिए परशु का काम करती है। इसी से कहा है कि हमारा घर दानशील पुरुषों का घर बना रहे। २. इसप्रकार क्रियाशीलता व दान की वृत्ति से वासनाओं से ऊपर उठी हुई **इन्द्राणी**=यह इन्द्र की शक्तिरूप पत्नी **प्रथमा**=अपनी शक्तियों का विस्तार करती हुई, **अजीता**=किसी प्रकार पराजित न हुई-हुई **अमुषिता**=अशुभ भावरूप चोरों से न लुटी हुई **पुरः एतु**=आगे-और-आगे बढ़े।

भावार्थ—क्रियाशीलता व दान अशुभ भावों को दूर करते हैं, तब हम विकसित शक्तिवाले व विजयी बनकर आगे बढ़ते हैं।

विशेष—सूक्त का विषय यह है कि हम कुटिलताओं व वासनाओं से ऊपर उठें। इनसे

ऊपर उठनेवाला 'अथर्वा' (डाँवाडोल न होनेवाला) इस सूक्त का ऋषि है। यह उन्नत होकर समाज की बुराइयों को भी दूर करने के लिए यत्नशील होता है। बुराइयों को दूर करनेवाला यह 'चातनः' कहलाता है (चातयति नाशयति)। बुराइयों के दूर होने से सारे समाज का **'स्वस्त्ययनम्'**=कल्याण होता है—

२८. [अष्टाविंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**पूर्वार्धस्य अग्निः, उत्तरार्धस्य यातुधान्यः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

द्वयावी, यातुधान व किमीदी

उप प्रागाद्देवो अग्नी रक्षोहामीवचातनः। दहन्नप द्वयाविनो यातुधानान्किमीदिनः ॥ १ ॥

१. **देवः**=ज्ञान के प्रकाशवाला, **अग्निः**=उन्नति का साधक, **रक्षोहा**=राक्षसीभावों को नष्ट करनेवाला, **अमीवचातनः**=रोगों को दूर करनेवाला यह ज्ञानी **उपप्रागात्**=समाज में हमें समीपता से प्राप्त होता है और अपने ज्ञान-उपदेशों से **द्वयाविनः**='मन में कुछ और वाणी में कुछ' इसप्रकार दो विरोधी भावों के धारण करनेवाले छली-कपटी पुरुषों को **यातुधानान्**=औरों के लिए पीड़ा का आधान करनेवाले पुरुषों को तथा **किमीदिनः**=(किम् अद्मि) 'जिनकी भोगों की कामना शान्त नहीं होती' उन्हें **अपदहन्**=सुदूर दग्ध करनेवाला होता है। २. प्रचारक की विशेषताएँ निम्न हैं—(क) वह ज्ञानी हो (देवः), (ख) स्वयं उन्नत हो (अग्निः), (ग) अपने राक्षसीभावों को विनष्ट कर चुका हो **(रक्षोहा)**। (घ) नीरोग हो (**अमीवचातनः**)। इस प्रचारक को तीन बातों का विशेषरूप से प्रचार करना है—(क) द्वयावी मत बनो। जो तुम्हारे मन में हो, वही तुम्हारी वाणी में हो। 'मन में कुछ हो, ऊपर से कुछ और कहो'—यह बात न हो। (ख) यातुधान मत बनो। औरों को पीड़ित मत करो, तुम्हें स्वयं भी तो पीड़ा इष्ट नहीं है। (ग) हर समय खाते ही न रहो, भोगासक्त न हो जाओ, 'किमीदी' मत बनो।

भावार्थ—अग्नि (ज्ञानी प्रचारक) को चाहिए कि वह ऐसे ढंग से प्रचार करे कि समाज से 'द्वयावी, यातुधान व किमीदी' पुरुष दूर हो जाएँ।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**पूर्वार्धस्य अग्निः, उत्तरार्धस्य यातुधान्यः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

देव व कृष्णवर्तनि

प्रति दह यातुधानान्प्रति देव किमीदिनः। प्रतीचीः कृष्णवर्तने सं दह यातुधान्यः ॥ २ ॥

१. हे **देव**=दीप्तिमय ज्ञानवाले अग्ने! आप अपने अहिंसा व माधुर्य से परिपूर्ण उपदेशों से **यातुधानान्**=पीड़ा का आधान करनेवालों को **प्रतिदह**=भस्मीभूत कर दीजिए। **किमीदिनः**='क्या खाँऊ और क्या खाँऊ' सदा इसप्रकार की वृत्तिवालों को भी **प्रति (दह)**=भस्म कर दीजिए। आपके उपदेशों से उनका यातुधानपना और किमीदिपना समाप्त हो जाए। 'यातुधान' यातुहान पीड़ा को दूर करनेवाले बन जाएँ। 'किमीदी' किन्द बन जाएँ 'क्या दूँ और क्या दूँ' यही सोचनेवाले हों। २. हे **कृष्णवर्तने**=आकर्षक मार्ग व बर्त्ताववाले! आप **प्रतीचीः**=(प्रति अञ्च्) धर्म से विमुख होकर जानेवाली **यातुधान्यः**=पीड़ा का आधान करनेवाली बहिनों को भी **सन्दह**=अपने उपदेशों व बर्त्तावों से भस्म कर दीजिए। वे पीड़ा देने के मार्ग को छोड़कर फिर से धर्म-मार्ग का अनुवर्त्तन करनेवाली हों। ३. प्रचारक को स्वयं तो देव होना ही चाहिए, स्वयं देव न होते हुए वह औरों को देव नहीं बना सकता। यह कृष्णवर्तनि हो। इसके वर्त्तने का मार्ग आकर्षक हो। यह दूसरों को अपनी ओर आकृष्ट करनेवाला हो। इसके प्रचार की विधि प्रभावक हो।

भावार्थ—प्रचारक को 'देव, कृष्णवर्तनि' बनकर यातुधानों को 'यातुहान' बनाना है और किमीदियों को 'किन्द'।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**यातुधान्यः** ॥ छन्दः—**विराट्पथ्याबृहती** ॥

तीन त्याज्य बातें

या शशाप शपनेन याघं मूरमादधे। या रसस्य हरणाय जातमारेभे तोकमत्तु सा ॥ ३ ॥

१. (क) **या**=जो **शपनेन**=अपशब्दों, आक्रोशों (curses) से **शशाप**=शाप देती है, गालियाँ देती है, (ख) **या**=जो **मूरम्, अघम्**=(मूरम्=destroying, killing) हिंसात्मक पापों को **आदधे**=धारण करती है, (ग) **या**=जो **रसस्य हरणाय**=औरों के आनन्द को नष्ट करने के लिए **जातम्**=साधन बने हुए कर्म को **आरेभे**=आरम्भ करती है, **सा**=वह **तोकम् अत्तु**=अपनी सन्तान को ही खा जाती है २. इस स्त्री के बच्चों पर इन सब कर्मों का इतना घातक प्रभाव होता है कि बच्चों का जीवन ही नष्ट हो जाता है। उसके बच्चे भी गाली देने लगेंगे, हिंसात्मक कर्मों में रुचिवाले हो जाएँगे और सदा औरों को दु:खी करने में ही आनन्द लेने लगेंगे। इसप्रकार के ये बच्चे बड़े होकर समाज के लिए बड़े भार प्रमाणित होंगे।

भावार्थ—माता अपने सन्तानों के कल्याण के लिए तीन बातों से बचे—(क) गाली देने से, (ख) हिंसात्मक कर्मों से, (ग) औरों के आनन्द को नष्ट करने से।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**यातुधान्यः** ॥ छन्दः—**पथ्यापङ्क्तिः** ॥

परस्पर लड़ने-झगड़ने से बचना

पुत्रमत्तु यातुधानीः स्वसारमुत नप्त्य[म्।
अधा मिथो विकेश्यो३ वि घ्नतां यातुधान्यो३ वि तृह्यन्तामराय्य[ः ॥ ४ ॥

१. **अध**=अब **यातुधान्यः**=औरों के लिए पीड़ा का आधान करनेवाली स्त्रियाँ **मिथः**=परस्पर भी **विकेश्यः**=बिखरे हुए केशोंवाली **विघ्नताम्**=परस्पर मारने-पीटनेवाली होती हैं और **अराय्यः**=न देने की वृत्तिवाली ये यातुधानियाँ **वितृह्यन्ताम्**=विविध प्रकारों से परस्पर हिंसा करनेवाली होती हैं। २. इसप्रकार परस्पर लड़ती हुई तथा हिंसात्मक कर्मों में लगी हुई **यातुधानीः**=ये यातुधानियाँ **पुत्रम्**=पुत्र को **अत्तु**=खा जाती हैं, अर्थात् उनके जीवन को नष्ट कर देती हैं, **उत**=और **स्वसारम्**=अपनी बहिन को व **नप्त्यम्**=नाती को भी खा जाती हैं, अर्थात् उनके जीवन को भी नष्ट कर देती है।

भावार्थ—सन्तान को उत्तम बनाने के लिए आवश्यक है कि गृहपत्नियाँ परस्पर लड़ें नहीं और हिंसात्मक कर्मों में भी प्रवृत्त न हों।

विशेष—सूक्त का संक्षिप्त विषय यह है कि प्रचारक ऐसी उत्तमता से प्रचार करे कि समाज से 'द्वयावी, किमीदी व यातुधान' दूर हो जाएँ। माताएँ भी यातुधानत्व को छोड़कर उत्तम कर्मों में लगी रहकर सन्तानों को उत्तम बनाएँ (१-४)। सन्तानों को उत्तम बनाने के लिए आवश्यक है कि इन्हें 'अभीवर्तमणि' के रक्षण की शिक्षा दी जाए। इसके रक्षण से जीवन को उत्तम बनाते हुए वे 'वसिष्ठ' अत्यन्त उत्तम निवासवाले बनेंगे। यह वसिष्ठ ही अगले सूक्त का ऋषि है।

२९. [एकोनत्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**ब्रह्मणस्पतिः, अभीवर्तमणिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'अभीवर्त' मणि

अभीवर्तेन मणिना येनेन्द्रो अभिवावृधे। तेनास्मान्ब्रह्मणस्पतेऽभि राष्ट्राय वर्धय ॥ १ ॥

१. मणि शब्द शरीर में उत्पन्न सोमकणों के लिए प्रयुक्त होता है। वीर्य का एक-एक बिन्दु मणि के समान है। जिस समय इसे नष्ट न होने देकर शरीर में ही सब ओर व्याप्त किया जाता है तो यह 'अभीवर्त' (अभितः वर्तने) कहलाती है। **अभीवर्तेन मणिना**=शरीर में सर्वत्र व्याप्त होनेवाले इस सोम-रक्षणरूप मणि से **येन**=जिससे **इन्द्रः**=इन्द्रियों का अधिष्ठाता—जितेन्द्रिय पुरुष **अभिवावृधे**=ऐहिक वा आमुष्मिक दोनों प्रकार की उन्नति करता है—'अभ्युदय और निःश्रेयस' दोनों को सिद्ध करता है अथवा 'शरीर व मस्तिष्क' इन दोनों का विकास कर पाता है, **तेन**=उस अभीवर्तमणि से हे **ब्रह्मणस्पते**=ज्ञान के स्वामिन् आचार्य! **अस्मान्**=हमें **राष्ट्राय**=राष्ट्र-उन्नति के लिए **अभिवर्धय**=शरीर व मस्तिष्क दोनों के दृष्टिकोण से बढ़ाइए। २. वस्तुतः वही युवक राष्ट्रोन्नति में सहायक होता है जो स्वस्थ शरीर व दीप्त मस्तिष्कवाला हो। शरीर के स्वास्थ्य व मस्तिष्क की दीप्ति के लिए इस सोमकणरूप मणि को अभीवर्तमणि बनाना आवश्यक है। शरीर में इसे सब ओर व्याप्त करने से ही यह अभीवर्तमणि बन जाती है। इसका लाभ **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष को ही होता है।

भावार्थ—सोमकणों को शरीर में सुरक्षित करके हम उसे 'अभीवर्तमणि' का रूप दें। यह हमें स्वस्थ शरीर व दीप्त मस्तिष्क बनाएगी। हम राष्ट्रोन्नति में सहायक होंगे।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**ब्रह्मणस्पतिः, अभीवर्तमणिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

आन्तर व बाह्य शत्रुओं का पराभव

अभिवृत्य सपत्नानभि या नो अरातयः।
अभि पृतन्यन्तं तिष्ठाभि यो नो दुरस्यति॥ २॥

१. शरीर में सुरक्षित होने पर यह सोम रोग-कृमियों को नष्ट करता है। ये रोग-कृमि इस शरीर के पति बनने की कामना करते हैं, अतः ये हमारे 'सपत्न' कहलाते हैं। इन **सपत्नान्**=हमारे शत्रुभूत रोग-कृमियों को **अभिवृत्य**=आक्रमण के द्वारा पराभूत करके और **याः**=जो **नः**=हमारे प्रति **दुरस्यति**=अशुभ आचरण करता है, उसे भी **अभि (वृत्य)**=दूर करके **पृतन्यन्तम्**=जो परस्पर सेना से आक्रमण करता है, उसका भी **अभितिष्ठ**=मुक़ाबला कर—बाह्य शत्रुओं को रोकने के लिए भी हमें शक्तिशाली बना। **यः**=जो **नः**=हमारे प्रति **दुरस्यति**=अशुभ आचरण करता है, उसे भी **अभि (वृत्य)**=तू दूर करनेवाला हो। २. यह सोम शरीर में होनेवाले रोगों तथा मन में होनेवाली कृपणता आदि वृत्तियों का अभिवर्तन (पराभव करके दूर) करता है, इससे भी इसका नाम 'अभीवर्तमणि' हो गया है। यह 'अभीवर्तमणि' शरीर के रोगों व मन के दोषों को दूर करती है। इसके साथ यह हमें वह तेजस्विता भी प्राप्त कराती है, जिससे कि हम आक्रमण करनेवालों व अशुभ व्यवहार करनेवालों का पराजय कर पाते हैं।

भावार्थ—यह 'अभीवर्तमणि' हमारे आन्तर व बाह्य शत्रुओं का पराभव करती है।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**ब्रह्मणस्पतिः, अभीवर्तमणिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

सूर्य-चन्द्र तथा पृथिवी आदि भूतों की देन

अभि त्वा देवः सविताभि सोमो अवीवृधत्।
अभि त्वा विश्वा भूतान्यभीवर्तो यथाससि॥ ३॥

१. शरीर में इस सोम=वीर्य को सूर्य-चन्द्र तथा पृथिवी, जल, तेज, वायु आदि अन्य सब भूत बढानेवाले होते हैं। सूर्य ओषधियों में प्राणदायी तत्त्वों को रखता है, चन्द्रमा उनमें रस का सञ्चार करता हे तथा पृथिवी आदि भूत उन ओषधियों में अन्य आवश्यक तत्त्वों की स्थापना

करते हैं। अब ये ओषधियाँ हमारे आहार के रूप में अन्दर जाकर रस आदि के क्रम से सोम को जन्म देती हैं। यह सोम 'अभीवर्त' बनता है—सब शत्रुओं का अभिवर्तन=पराभव करनेवाला हो जाता है। २. हे अभीवर्तमणे! **त्वा**=तुझे **सविता देवः**=शक्ति को जन्म देनेवाला यह प्रकाशमय सूर्य **अभि अवीवृधत्**=आन्तर व बाह्य शक्ति के दृष्टिकोण से बढ़ाता है। इसप्रकार सूर्य से बढ़ाया जाकर तू आन्तर शक्ति से रोगों को जीतता है तो बाह्य तेज से शत्रुओं को आक्रान्त करता है। ३. **सोमः**=चन्द्रमा भी तुझे **अभि (अवीवृधत्)**=आन्तर व बाह्य शक्तियों के दृष्टिकोण से बढ़ाए। इन सूर्य और चन्द्रमा के अतिरिक्त **विश्वा भूतानि**=पृथिवी आदि सब भूत भी **त्वा**=तुझे **अभि (अवीवृधन्)**=बढ़ाएँ। **यथा**=जिससे इनसे प्रवृद्ध शक्तिवाला होकर तू **अभीवर्तः असमि**=अभीवर्त होता—शत्रुओं का पराभव करनेवाला होता है। सूर्य तुझमें प्राणों की उष्णता का सञ्चार करता है, चन्द्रमा रसात्मक शीतलता का। **'आपः ज्योतिः'**—इन दोनों तत्त्वों से युक्त होकर तू शत्रुओं का नाश करता है और हमारे जीवन को आनन्दमय बनाता है।

भावार्थ—सूर्य-चन्द्र तथा पृथिवी आदि से शक्ति-सम्पन्न बना हुआ यह सोम हमारे शत्रुओं का पराभव करके 'अभीवर्त' नामवाला होता है।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**ब्रह्मणस्पतिः, अभीवर्तमणिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

सपत्नक्षयण मणि

अभीवर्तो अभिभवः सपत्नक्षयणो मणिः। राष्ट्राय मह्यं बध्यतां सपत्नेभ्यः पराभुवे॥ ४॥

१. यह **मणिः**=सोमकणरूप मणि **अभीवर्तः**=शरीर में रोगों व मन की आवञ्छनीय वृत्तियों का अभिवर्त करनेवाली होती है—उनपर आक्रमण करके उन्हें दूर भगा देती है। **अभिभवः**=यह बाह्य शत्रुओं और अशुभ व्यवहार करनेवालों को भी अभिभूत करती है। **सपत्नक्षयणः**=शरीर के पति बनने की कामनावाले हमारे सपत्नभूत रोगकृमिरूप शत्रुओं को यह नष्ट करती है। २. यह मणि **मह्यम्**=मेरे लिए तथा **राष्ट्राय**=राष्ट्र के लिए—राष्ट्र की उन्नति के लिए **बाध्यताम्**=शरीर में ही बद्ध की जाए। शरीर में ही सुरक्षितरूप से स्थापित हो। रोगों के दूर होने पर ही मेरे जीवन की उन्नति सम्भव होती है। (**मशकेभ्यः धूमः**=मच्छरों के निवारण के लिए धुँआ है)। इसका स्थापन इसलिए भी आवश्यक है कि इससे शक्तिसम्पन्न बनकर ही युवक **पराभुवे**=शत्रुओं का पराभव करने में समर्थ होंगे और शत्रुओं के पराभूत होने पर ही राष्ट्रोन्नति सम्भव होती है।

भावार्थ—यह अभीवर्तमणि रोगकृमिरूप सपत्नों को समाप्त करके वैयक्तिक उन्नति का साधन बनती है और युवकों को राष्ट्र के शत्रुओं के पराभव के लिए शक्तिसम्पन्न बनाकर राष्ट्रोन्नति का कारण होती है।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**ब्रह्मणस्पतिः, अभीवर्तमणिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अशत्रु-असपत्न

उदसौ सूर्यो अगादुदिदं मामकं वचः। यथाहं शत्रुहोऽसान्यसपत्नः सपत्नहा॥ ५॥

१. **असौ**=वह **सूर्यः**=सूर्य **उद् अगात्**=उदय हुआ है। सूर्योदय के साथ ही **इदम्**=यह **मामकं वचः**=मेरा वचन भी **उद्**=उदित होता है—मैं भी प्रभु के आराधन में तत्पर होता हूँ **यथा**=जिससे कि **अहम्**=मैं **शत्रुहः**=काम, क्रोध, लोभ आदि शत्रुओं का हनन करनेवाला **असानि**=होऊँ। प्रभु का आराधन ही मुझे काम आदि शत्रुओं के पराभव में समर्थ बनाएगा—मैं स्वयं तो काम आदि को क्या जीत पाऊँगा? इन्हें पराजित तो प्रभु को ही करना है। २. कामादि के पराभव के साथ मैं **असपत्नः**=सपत्नों से रहित होऊँ—**सपत्नहा**=इन सपत्नों का नाश करनेवाला होऊँ। रोगकृमि ही सपत्न हैं, सूर्य अपनी रश्मियों से इन रोगकृमिरूप सपत्नों को

नष्ट करता है। सूर्य-किरणों में प्रभु ने क्या ही अद्भुत शक्ति रक्खी है!

भावार्थ—सूर्योदय के साथ में प्रभु का आराधन करनेवाला होऊँ। यह मुझे असपत्न व अशत्रु बनाए।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**ब्रह्मणस्पतिः, अभीवर्तमणिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

वृषा-विषासहि

सपत्नक्षयणो वृषाभिराष्ट्रो विषासहिः।
यथाहमेषां वीराणां विराजानि जनस्य च॥ ६॥

१. गतमन्त्र के अनुसार मैं सूर्योदय के साथ ही प्रभुस्तवन प्रारम्भ करता हूँ **यथा**=जिससे कि **अहम्**=मैं **सपत्नक्षयणः**=रोगकृमिरूप सपत्नों को नष्ट करनेवाला होऊँ, **वृषा**=शक्तिशाली बनूँ। **अभिराष्ट्रः**=(राष्ट्रम्=any national or public calamity) राष्ट्रीय विपत्ति को भी अभिभूत करनेवाला होऊँ। अपने सपत्नों को नष्ट करके राष्ट्र के शत्रुओं को भी **विषसहिः**=पराभव करनेवाला बनूँ। २. **एषां वीराणां विराजानि**=मैं इन वीर पुरुषों में विशेषरूप से दीप्त होऊँ **च**=और **जनस्य (विराजानि)**=लोकों का रञ्जन करनेवाला बनूँ। ३. वस्तुतः प्रत्येक व्यक्ति को 'अभिराष्ट्र व विषासहि' होना है, विशेषतः राजा को। राजा ने अपने कन्धे पर राष्ट्र के भार को धारण किया है। उस कर्त्तव्य को निभाने के लिए तो उसे अभीवर्तमणि के रक्षण द्वारा 'सपत्नक्षयण और वृषा' तो बनना ही है, साथ ही अभिराष्ट्र व विषासहि बनकर वह वीरों में चमकनेवाला व लोकों का रञ्जनवाला बने।

भावार्थ—प्रभु का आराधन व 'अभीवर्तमणि' का रक्षण करता हुआ मैं सपत्नक्षयण, वृषा, अभिराष्ट्र व विषासहि बनूँ।

विशेष—इस सूक्त में शरीर में सुरक्षित सोम को 'अभीवर्तमणि' कहा है। यह इन्द्र का सर्वतः वर्धन करती है (१)। सपत्नों का अभिवर्तन (पराभव) करने के कारण यह 'अभीवर्त' है (२)। सूर्य-चन्द्र व पृथिवी आदि अन्य भूतों के द्वारा इसका उत्पादन होता है (३)। यह हमें शक्तिशाली बनाकर निजी व राष्ट्रीय उन्नति के योग्य बनाती है (४)। प्रभु-स्मरण से मैं इस मणि को शरीर में रक्षित कर पाता हूँ (५)। रक्षित होकर यह मुझे दीप्त जीवनवाला बनाती है (६)। इसके रक्षण से ही हमें दीर्घ-जीवन प्राप्त होता है, अतः अगले सूक्त का ऋषि 'आयुष्कामः' आयु की कामनावाला 'अथर्वा' न डाँवाडोल वृत्तिवाला है। इसकी आराधना है कि सब देव इसका रक्षण करें।

३०. [त्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा (आयुष्कामः)** ॥ देवता—**विश्वेदेवाः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

दीर्घ जीवन के लिए

विश्वेदेवा वसवो रक्षतेममुतादित्या जागृत यूयमस्मिन्।
मेमं सनाभिरुत वान्यनाभिर्मेमं प्रापत्पौरुषेयो वधो यः॥ १॥

१. **विश्वेदेवाः**=सब प्राकृतिक शक्तियो! **वसवः**=निवास के कारणभूत तत्त्वो! **इमम्**=इस व्यक्ति का **रक्षत**=तुम रक्षण करो। सब प्राकृतिक शक्तियों की अनुकूलता में ही मनुष्य के स्वास्थ्य का रक्षण होता है। जल-वायु आदि की प्रतिकूलता ही स्वास्थ्य को विकृत करती है। २. इन प्राकृत शक्तियों के अतिरिक्त माता-पिता, आचार्य आदि की सावधानता भी बालक के उत्तम निर्माण में बड़ा महत्त्व रखती है, अतः मन्त्र में कहा है कि **उत**=और **आदित्याः**=हे गुणों का

आदान करनेवाले पुरुषो! **यूयम्**=आप सब **अस्मिन्**=इसके विषय में **जागृत**=जागते रहो—सावधान रहो। आपकी जागरूकता ही इसके जीवन को विकृत होने से बचाएगी। ३. राष्ट्रीय व्यवस्था भी इसप्रकार उत्तम हो कि **इमम्**=इस पुरुष को **स-नाभिः**=समान बन्धनवाला कोई रिश्तेदार **उत वा**=अथवा **अन्यनाभिः**=अबन्धु **मा**=नष्ट करनेवाला न हो। **इमम्**=इसे **यः पौरुषेयः वधः**=जो किसी पुरुष से प्राप्त होनेवाला वध है, वह **मा प्रापत्**=मत प्राप्त हो। कोई चोर-डाकू भी इसका हनन करनेवाला न हो।

भावार्थ—दीर्घ जीवन के लिए आवश्यक है कि (क) जल-वायु आदि देव अनुकूल हों, (ख) माता-पिता, आचार्य आदि जागरूक रहकर बालक का निर्माण करें, (ग) पारिवारिक व सामाजिक सम्बन्ध ठीक हों, (घ) राष्ट्रीय व्यवस्था उत्तम हो।

ऋषिः—**अथर्वा (आयुष्कामः)**॥ देवता—**विश्वेदेवाः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

तीन पीढ़ियों का उत्तरदायित्व

ये वो देवाः पितरो ये च पुत्राः सचेतसो मे शृणुतेदमुक्तम्।
सर्वेभ्यो वः परि ददाम्येतं स्वस्त्ये᳡नं जरसे वहाथ॥ २॥

१. घर में व्यक्तियों को देववृत्ति का तो होना ही चाहिए। प्रभु जब घर में इन देववृत्ति के सन्तानों को भी सन्तान प्राप्त कराते हैं तब कहते हैं—हे **देवाः**=देववृत्ति के पुरुषो! **ये वः पितरः**=जो आपके पितृस्थानीय बड़े व्यक्ति हैं, **ये च पुत्राः**=और जो तुम्हारे पुत्र हैं वे सब-के-सब **सचेतसः**=पूरी चेतनावाले होते हुए **मे**=मेरे **इदम् उक्तम्**=इस कथन को **शृणुत**=सुनो कि **वः सर्वेभ्यः**=तुम सबके लिए मैं **एतम्**=इस वर्त्तमान सन्तान को **परिददामि**=प्राप्त कराता हूँ। आप इसका इस सुन्दरता से पालन करो कि **एनम्**=इसे **स्वस्ति**=कल्याणपूर्वक **जरसे**=जरावस्था तक—पूर्णायुष्य के लिए **वहाथ**=ले-चलनेवाले होओ। आप इसप्रकार से इसका पालन करो कि यह पूर्ण जीवन को प्राप्त करे। २. यहाँ मन्त्र में सन्तान के पिता को 'देवपुत्र' शब्द से स्मरण किया है। देवपुत्र होने से वे सन्तानों को उत्तम बनाएँगे ही। सन्तान के पितामह यहाँ 'देव' कहे गये हैं। प्रपितामह 'देवपितर' कहे गये हैं। इसप्रकार प्रपितामह, पितामह व पिता—सभी के संस्कार देवत्व को लिये हुए हैं—ये सन्तानों को उत्तम बनाएँगे ही। चतुर्थ पीढ़ी के समय इन तीनों का ही जीवित होना सम्भव है। ये ही अपनी क्रियाओं से सन्तान को प्रभावित करनेवाले हो सकते हैं, अतः इनका उत्तरादायित्व स्पष्ट है। ये सन्तान-निर्माण के लिए जागरूक रहेंगे तो सन्तान दीर्घजीवी व उत्तम क्यों न बनेंगे?

भावार्थ—सन्तान प्रपितामह, पितामह व पिता से विशेषरूप से प्रभावित होती है, अतः वे सन्तान को उत्तम बनाने का पूर्ण ध्यान करें।

ऋषिः—**अथर्वा (आयुष्कामः)**॥ देवता—**विश्वेदेवाः** ॥ छन्दः—**शाक्वरगर्भाविराड्जगती**॥

अन्न, दूध व जल

ये देवा दिवि ष्ठ ये पृथिव्यां ये अन्तरिक्ष ओषधीषु पशुष्वप्स्व१न्तः।
ते कृणुत जरसमायुरस्मै शतमन्यान्परि वृणक्तु मृत्यून्॥ ३॥

१. **ये देवाः**=जो देव **दिवि स्थ**=द्युलोक में हो, **ये पृथिव्याम्**=जो पृथिवी पर हो **ये अन्तरिक्षे**=जो अन्तरिक्ष में हो और **ओषधीषु, पशुषु अप्सु अन्तः**=जो ओषधियों में, पशुओं में और जलों में हो **ते**=वे सब देव **अस्मै**=इसके लिए **जरसम् आयुः**=पूर्ण जरावस्था तक प्राप्त होनेवाले जीवन को **कृणुत**=करो। यह **शतम्**=सैकड़ों **अन्यान् मृत्युन्**=अन्य मृत्युओं को, रोगों

से, दुर्घटनाओं (accidents) से होनेवाली मृत्युओं को **परिवृणक्तु**=अपने से दूर ही रक्खे। २. प्राकृतिक शक्तियाँ तेतीस भागों में बाँटी गई हैं—ग्यारह द्युलोक में, ग्यारह अन्तरिक्ष में और ग्यारह पृथिवी पर। इन सबकी अनुकूलता होने पर क्रमशः मस्तिष्क, हृदय व शरीर का स्वास्थ्य निर्भर होता है। इनके अतिरिक्त ओषधियों में भी दिव्य गुण विद्यमान होते हैं। सूर्य-चन्द्र आदि से इनमें प्राणदायी तत्त्वों का स्थापन होता है। 'पयः पशूनाम्' इस अथर्व के संकेत के अनुसार पशुओं के दूध का प्रयोग अभीष्ट है। यह भी ओषधियों के सब दिव्य गुणों को लिये हुए होता है। जलों में तो सर्वरोगनाशक दिव्य तत्त्व प्रभु ने स्थापित किये ही हैं। अन्न, दूध व जल—इन सबका प्रयोग दीर्घ-जीवन का साधन बनता है। इनके ठीक प्रयोग से न रोग आते हैं और न असमय की मृत्यु होती है।

भावार्थ—सब प्राकृतिक शक्तियों की अनुकूलता तथा 'अन्न, दूध व जल' का ठीक प्रयोग हमें रोगों से बचाए और पूर्ण जीवन प्राप्त कराए।

ऋषिः—**अथर्वा (आयुष्कामः)**॥ देवता—**विश्वेदेवाः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

दीर्घ-जीवन के लिए चार महत्त्वपूर्ण बातें

येषां प्रयाजा उत वानुयाजा हुतभागा अहुतादश्च देवाः।
येषां वः पञ्च प्रदिशो विभक्तास्तान्वो अस्मै सत्रसदः कृणोमि॥ ४॥

१. '**महाभूतानि प्रयाजाः, भूतान्यनुयाजाः**'=प्राणाग्निहोत्रोपनिषद् के अनुसार शरीर में महाभूत प्रयाज हैं तथा जीवन में जिनके साथ हम सम्पर्क में आते हैं वे भूत=प्राणी अनुयाज हैं। **येषाम्**=जिनके शरीर में **प्रयाजाः**=ये महाभूत **विभक्ताः**=ठीक रूप में विभक्त हैं **उत वा**=तथा **अनुयाजाः**=जीवन में सम्पर्क में आनेवाले माता-पिता, आचार्य आदि व्यक्ति भी **विभक्ताः**=विशेषरूप से सेवित होते हैं (भज सेवायाम्), **वः**=तुममें से **तान्**=उन्हें **अस्मै**=इस जीवन-यात्रा के लिए **सत्रसदः**=जीवन-यज्ञ में स्थित होनेवाला **कृणोमि**=करता हूँ। शरीर में पृथिवी आदि तत्त्वों के ठीक अनुपात में होने पर किसी प्रकार के रोग नहीं होते। तत्पश्चात् यदि माता-पिता, आचार्य आदि का उत्तमता से सेवन होता है तो जीवन का विकास ठीक रूप में होता है। २. शरीर में इन्द्रियाँ, 'हुतभाग' देव कहलाती हैं। ये शरीर में आहुत किये गये भोजन का सेवन करती हैं। उससे ही इनका पोषण होता है। प्राण 'अहुताद' कहलाते हैं। ये बिना थके निरन्तर कार्य करते चलते हैं। **येषाम्**=जिनकी **हुतभागाः देवाः**=हुत का सेवन करनेवाली इन्द्रियाँ ठीक कार्य करती हैं **च**=और **अहुतादः**=हुत का सेवन किये बिना ही निरन्तर कार्य करनेवाले प्राण ठीक कार्य करते हैं, उन्हें जीवन-यज्ञ में स्थिर होनेवाला कहता हूँ। ३. **वः**=तुममें से **येषाम्**=जिनके **पञ्च प्रदिशः**=पाँचों प्रकृष्ट प्रेरणाओं को देनेवाले अन्तःकरण पञ्चक **विभक्ताः**=ठीक रूप में विभक्त होते हैं, अर्थात् अपना-अपना कार्य ठीक रूप में करते हैं, उन्हें इस जीवन-यज्ञ में ठीक स्थिति प्राप्त होती हैं। ये ही व्यक्ति दीर्घ जीवनवाले बनते हैं।

भावार्थ—दीर्घ जीवन के लिए आवश्यक है कि (क) महाभूत शरीर में ठीक अनुपात में हों, (ख) माता-पिता, आचार्य आदि का सम्पर्क ठीक रहे, (ग)इन्द्रियाँ व प्राण ठीक कार्य करें, (घ) अन्तःकरण पञ्चक की प्रेरणा ठीक चले।

सूचना—दीर्घजीवन के लिए प्रयाजों व अनुयाजों का ठीक अनुपात में होना आवश्यक है। अन्तःकरण पञ्चक का कार्य ठीक चलना चाहिए तथा प्राण व इन्द्रियों का कार्य भी ठीक होना चाहिए। अन्तःकरण पञ्चक का कार्य है—'मन' का उत्तम इच्छाएँ, 'बुद्धि' का विवेक, 'चित्त' का अविस्मरण, 'अहंकार' का आत्मा का उचित अभिमान, 'हृदय' का शब्द।

विशेष—इस सूक्त में दीर्घ जीवन के लिए उपायों का वर्णन करते हुए कहा है कि (क) जल-वायु आदि देवों की अनुकूलता सर्वप्रथम साधन है, (ख) माता-पिता, आचार्य का बालक को उत्तम बनाना दूसरा साधन है, (ग) पारिवारिक व सामाजिक सम्बन्धों का ठीक होना आवश्यक है और (घ) राष्ट्रीय व्यवस्था की उत्तमता भी अपेक्षित है (१)। (ङ) अन्न, जल व दूध का ही प्रयोग दीर्घ जीवन का साधन बनता है (३)। इसप्रकार दीर्घ-जीवन प्राप्त करनेवाला यह अब 'ब्रह्मा' बनता है और चारों दिशाओं का रक्षण करता है। यह चतुर्दिक् रक्षण ही अगले सूक्त का विषय है—

३१. [एकत्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आशापालाः (वास्तोष्पतयः)** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

चार अध्यक्ष

आशानामाशापालेभ्यश्चतुर्भ्यो अमृतेभ्यः।
इदं भूतस्याध्यक्षेभ्यो विधेम हविषा वयम्॥ १॥

१.जैसे इस पृथिवीलोक में स्थित होते हुए हम चार दिशाओं का व्यवहार करते हैं, इसीप्रकार शरीर में भी ये चार दिशाएँ विद्यमान हैं। शरीर में 'मुख' पूर्व दिशा है तो 'पायु' (मलशोधक इन्द्रिय) पश्चिम दिशा है। पूर्व दिशा का अधिपति 'इन्द्र' है और पश्चिम का 'वरुण'। यदि हम इस मुख, अर्थात् जिह्वा को वश में कर लेते हैं तो अन्य इन्द्रियों का वशीकरण इतना कठिन नहीं रहता और हम इन्द्र बन पाते है। इसीप्रकार पायु का कार्य बिल्कुल ठीक होने से हम 'वरुण'=सब रोगों का निवारण करनेवाले होते हैं। शरीर में विदृति द्वार या ब्रह्मरन्ध्र उत्तर है और उपस्थ दक्षिण है। उपस्थ का संयम ही ब्रह्मचर्य है। ब्रह्म की ओर चले चलने का साधन यही है। इस दिशा का अधिपति 'यम' कहलाता है। वस्तुतः जिसने उपस्थ का नियमन कर लिया वह 'यम' (controller) तो बन ही गया। यह व्यक्ति ही उत्तर दिशा की ओर चलता हुआ अन्त में विदृति द्वार का विदारण करके प्राणों को छोड़ता हुआ प्रभु को पाता है। यह प्रभु के समान ही 'ईशान' बनता है और उत्तर दिशा का अधिपति होता है। पूर्व व पश्चिम द्वार शरीर के पूर्ण स्वास्थ्य के साथ सम्बद्ध हैं तो ये दक्षिण व उत्तर द्वार आत्मिक उन्नति को अपना विषय बनाते हैं। **वयम्**=हम **आशानाम्**=इन चारों दिशाओं के **आशापालेभ्यः**=दिग्रक्षकों के लिए **हविषा**=त्यागपूर्वक अदन (खाने) के द्वारा **इदं विधेम**=यह पूजा करते हैं जोकि **चतुर्भ्यः**=चारों **अमृतेभ्यः**=अमृत हैं। उन अमृत आशापालों के लिए हम यह पूजन करते हैं जोकि **भूतस्य अध्यक्षेभ्यः**=प्राणियों के अध्यक्ष हैं अथवा, 'पृथिवी, जल, तेज व वायु' नामक चारों भूतों के अध्यक्ष हैं। शरीर में इन चारों भूतों का ठीक से रहना व कार्य करना इन 'मुख, पायु, उपस्थ व विदृति' द्वारों के कार्यों के ठीक होने पर ही निर्भर करता है। ३. इनमें 'मुख' का कार्य ठीक होने पर 'पायु' का कार्य ठीक चलता ही है। खान-पान गड़बड़ होने पर ही पायु का कार्य ठीक से नहीं होता। कब्ज़ आदि रोग भोजन के बिगाड़ से ही होते हैं। इसीप्रकार 'उपस्थ' के संयम से 'विदृति द्वार' का कार्य ठीक रूप से चल सकता है। इसप्रकार यह स्पष्ट है कि 'मुख व उपस्थ' ही अत्यधिक ध्यान की अपेक्षा रखते हैं। इनके संयम के लिए किया गया प्रयत्न हमें अमृत बनाता है। पूर्णायुष्य की प्राप्ति का यही मार्ग है। इनके संयम से हमारे जीवन में पृथिवी आदि भूतों का कार्य बिल्कुल ठीक चलता है।

भावार्थ—हमें 'मुख, पायु, उपस्थ व विदृति'—इन चारों शरीरस्थ द्वारों का रक्षण करना है। इसी रक्षण पर अमृतत्व का निर्भर है।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आशापालाः (वास्तोष्पतयः)** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

निर्ऋति व अंहस् के पाशों से मुक्ति

य आशानामाशापालाश्चत्वार स्थन देवाः।
ते नो निर्ऋत्याः पाशेभ्यो मुञ्चतांहसोअंहसः ॥ २ ॥

१. **ये**=जो आप **आशापालाः**=दिशाओं के रक्षक **आशानाम्**=दिशाओं के **चत्वारः**=चार **देवाः स्थन**=देव हो, **ते**=वे आप **नः**=हमें **निर्ऋत्याः**=मृत्यु व नाश (Death or destruction) के **पाशेभ्यः**=पाशों से **मुञ्चत**=मुक्त करो तथा **अहंसः अहंसः**=प्रत्येक पाप से मुक्त करो। २. यहाँ मुख व पायु के अधिष्ठातृदेव इन्द्र और वरुण हमें मृत्यु से बचाते हैं। इनके अमर होने पर हमें शारीरिक अमरता प्राप्त होती है। हमारा जीवन नीरोग बना रहता है। ३. उपस्थ व विदृति के अधिष्ठातृदेव 'यम और ईशान' हमारे जीवन को निष्पाप बनाते हैं। नीरोगता व निष्पापता का परस्पर सम्बन्ध उसी प्रकार है जैसेकि शरीर व मन का। शरीरस्थ रोग मानस विकृति का कारण होते हैं और मानस विकार शरीर के रोगों को जन्म देते हैं।

भावार्थ—हम मुख व पायु के कार्य को व्यवस्थित करके नीरोग बनें, उपस्थ व विदृति के कार्य को ठीक करके निष्पाप बनें।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आशापालाः (वास्तोष्पतयः)** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥

अस्रामः-अश्लोणः

अस्रामस्त्वा हविषा यजाम्यश्लोणस्त्वा घृतेन जुहोमि।
य आशानामाशापालस्तुरीयो देवः स नः सुभूतमेह वक्षत् ॥ ३ ॥

१. **अस्रामः**=अश्रान्त होता हुआ **त्वा**=तुझे **हविषा**=दानपूर्वक अदन के द्वारा—यज्ञशेष के सेवन के द्वारा **यजामि**=उपासित करता हूँ। प्रभु का सच्चा पूजन यही है कि हमारा जीवन एक अविच्छिन्न यज्ञ बन जाए। '**यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः**'=देव यज्ञ के द्वारा ही उस उपास्य प्रभु का पूजन करते हैं। गतमन्त्रों में वर्णित मुख द्वार का संयम यज्ञशेष के सेवन की वृत्ति से ही होता है। २. **अश्लोणः**=(श्लोण्=to heap together, collect, gather) धनों का परिग्रह न करता हुआ मैं **घृतेन**=मानस नैर्मल्य व मस्तिष्क की ज्ञानदीप्ति से **त्वा**=तेरे प्रति=**जुहोमि**=अपना अर्पण करता हूँ। धनों का संग्रह ही हमें प्रभु से दूर ले-जाता है। धन की चमक ही हमारी दृष्टि पर पर्दा डाल देती है और हम प्रभु-दर्शन से वञ्चित ही रह जाते हैं। ३. निरन्तर यज्ञमय जीवन बिताने पर तथा धनों के लोभ के त्याग से प्रभु के प्रति अपना अर्पण करने पर **यः**=जो **आशानाम्**=इन दिशाओं में **तुरीयः आशापालः**=उत्तर दिशा का आशापाल 'ईशन' प्रभु है, **सः देवः**=वह प्रकाशमान् देव **नः**=हमारे लिए **इह**=इस जीवन में **सुभूतम्**=उत्तम स्थिति को **आवक्षत्**=सब प्रकार से प्राप्त कराए। विदृति द्वार ही शरीर में उत्तर द्वार है। यह हमें ब्रह्म की ओर ले-जाता है। हम ब्रह्म की ओर चलते हैं और ब्रह्म हमें 'सु-भूत' उत्तम ऐश्वर्य प्राप्त कराते हैं। ४. प्रभु-प्राप्ति के लिए आवश्यक है कि (क) हम यज्ञमय जीवन बिताएँ, (ख) धनों के प्रति आसक्ति न रखते हुए उस तुरीय देव प्रभु के प्रति अपना अर्पण करें। ५. स्थूलतया मुख का सम्बन्ध स्थूलशरीर से है। ठीक खाएँगे तो यह शरीर ठीक बना रहेगा। पायु का कार्य ठीक होने पर ही सूक्ष्मशरीर के कार्य ठीक से चलते हैं, अन्यथा सब इन्द्रियाँ थकी-सी प्रतीत होती हैं, मस्तिष्क पीड़ित-सा हो जाता है। उपस्थ का संयम हमें कारणशरीर व आनन्दमयकोश में पहुँचाता है। जब हम प्राणसाधना से विदृति द्वार को खोलने के लिए प्रवृत्त होते हैं, तब

समाधिजन्य तुरीय शरीर में पहुँचते हैं। यह तुरीय शरीर ब्रह्म ही है। यहाँ पहुँचने पर हम 'शान्त, शिव, अद्वैत स्थिति का अनुभव करते हैं।' यह स्थिति ही 'सु-भूत' है।

भावार्थ—हम ब्रह्म का यज्ञ करते हैं—उसके प्रति अपना अर्पण करते हैं तो प्रभु हमें सर्वोच्च स्थिति को प्राप्त करानेवाले होते हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आशापालाः (वास्तोष्पतयः)** ॥ छन्दः—**परानुष्टुप्त्रिष्टुप्** ॥

सुभूतं-सुविदत्रम्

स्व॒स्ति मा॒त्र उ॒त पि॒त्रे नो॑ अस्तु स्व॒स्ति गोभ्यो॒ जग॑ते॒ पुरु॑षेभ्यः।
विश्वं॑ सुभू॒तं सु॑वि॒दत्रं॑ नो अस्तु॒ ज्योगे॒व दृ॑शेम॒ सूर्य॑म्॥ ४॥

१. गतमन्त्र में कहा था कि यज्ञशील व प्रभु के प्रति समर्पण करनेवाले को प्रभु उत्तम स्थिति प्राप्त कराते हैं। उसी का चित्रण करते हुए कहते हैं कि **मात्रे**=माता के लिए **उत**=और **नः पित्रे**=हमारे पिता के लिए **स्वस्ति**=कल्याण हो। घर में मङ्गल के लिए पहली बात यही है कि माता-पिता की स्थिति ठीक हो। वे नीरोग, आर्थिक चिन्ताओं से मुक्त व स्वाध्यायशील हों। ऐसा होने पर ही सन्तानों की उत्तमता सम्भव है। **गोभ्यः**=गौओं के लिए, **जगते**=गतिशील अन्य प्राणियों के लिए तथा **पुरुषेभ्यः**=घर से सम्बद्ध अन्य व्यक्तियों के लिए **स्वस्ति**=कल्याण हो। घर के साथ गौ का विशेष सम्बन्ध है। वस्तुतः यह गौ ही हमारे स्वास्थ्य को तथा यज्ञादि को सिद्ध करनेवाली होती है। यजुर्वेद का प्रारम्भ ही इन गौओं के 'अनमीव व अयक्ष्म' होने की प्रार्थना से होता है। घर के साथ सम्बद्ध अन्य व्यक्तियों का स्वास्थ्य भी घर की उत्तम स्थिति के लिए नितान्त आवश्यक है। २. इसप्रकार घर के उत्तम वातावरण में **नः**=हमारे लिए **विश्वं सुभूतम्**=सब उत्तम ऐश्वर्य तथा **सुविदत्रम्**=उत्तम ज्ञान **अस्तु**=हो। हम उत्तम ऐश्वर्य और ज्ञान को प्राप्त करते हुए **ज्योक् एव**=चिरकाल तक ही **सूर्यम्**=सूर्य को **दृशेम**=देखें, अर्थात् अतिदीर्घ जीवन प्राप्त करनेवाले हों। 'ऐश्वर्य, ज्ञान व दीर्घजीवन' की प्राप्ति ही उच्चतम स्थिति है। इसी के लिए गतमन्त्र में प्रभु से प्रार्थना की गई थी।

भावार्थ—घर में सब स्वस्थ हों। हमें वहाँ 'ऐश्वर्य, ज्ञान व दीर्घजीवन' प्राप्त हो।

विशेष—यह सूक्त बड़ी सुन्दरता से मुख आदि द्वारों का वर्णन करता है। चार द्वार हैं—चारों द्वारों को ठीक रखनेवाला 'ब्रह्मा' इस सूक्त का ऋषि है। यह चतुर्मुख है—चारों उत्तम द्वारोंवाला है। इन द्वारों के ठीक होने पर सब 'सुभूत व सुविदत्र' की प्राप्ति होती है। यह ब्रह्मा ही अगले सूक्त में द्यावापृथिवी की रचना में ब्रह्म की महिमा को देखता है—

३२. [द्वात्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**द्यावापृथिवी** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

सबका प्राण

इ॒दं ज॑नासो वि॒दथ॑ म॒हद् ब्रह्म॑ वदिष्यति।
न तत्पृ॑थि॒व्यां नो दि॒वि येन॑ प्रा॒णन्ति॑ वी॒रुधः॑॥ १॥

१. **जनासः**=हे लोगो! **इदं विदथ**=इस बात को समझ लो कि **न तत् पृथिव्याम्**=न तो वह तत्त्व पृथिवी में ही है और **नो दिवि**=न ही द्युलोक में है **येन**=जिससे **वीरुधः**=ये सब फैलनेवाली व विविधरूप से उगनेवाली लताएँ, वनस्पतियाँ **प्राणन्ति**=प्राणित होती हैं। **महद् ब्रह्म**=यह महनीय वेदज्ञान **वदिष्यति**=इसी बात का प्रतिपादन करेगा। २. देखने में तो यही लगता है कि पृथिवी इन सब वनस्पतियों को जन्म देती है और द्युलोक से होनेवाली वृष्टि उन

वनस्पतियों के उगने का कारण बनती है। पृथिवी इन वनस्पतियों की माता है तो द्युलोक पिता है—'**द्यौष्पिता पृथिवी माता**' ऐसा वेद कहता भी है, परन्तु जब यह विचार चलता है कि पृथिवी व द्युलोक में इस शक्ति को कौन रखता है तब विचारशील पुरुष इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि इनमें शक्ति-स्थापन करनेवाला कोई और है—वही 'ब्रह्म' है। वही प्राणों का प्राण है। ब्रह्म ही द्युलोक को उग्र और पृथिवी को दृढ़ बनाता है। प्रभु से शक्ति प्राप्त करके ही ये द्यावापृथिवी इन वीरुधों को प्राणित करनेवाले होते हैं, अतः वस्तुतः प्राणित करनेवाला तो प्रभु ही है। ये सब वनस्पतियाँ प्राणित होकर प्रभु की ही महिमा को प्रकट कर रही हैं।

भावार्थ—द्यावापृथिवी से प्राणित होनेवाली ये सब वनस्पतियाँ मूल में प्रभु से ही प्राणित हो रही हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**द्यावापृथिवी** ॥ छन्दः—**ककुम्मत्यनुष्टुप्** ॥

सर्वाधार

अन्तरिक्ष आसां स्थाम श्रान्तसदामिव। आस्थानमस्य भूतस्य विदुष्टद्वेधसो न वा ॥ २ ॥

१. गतमन्त्र में वर्णित **आसाम्**=इन वीरुधों (लताओं) का **स्थाम**=आधार **अन्तरिक्षे**=उस सबके अन्तर निवास करनेवाले [**यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरः**—उप०] प्रभु में है, **इव**=उसी प्रकार जैसे **श्रान्तसदाम्**=थककर बैठनेवाले यात्रियों की वृक्षछाया आधार बनती है। २. **अस्य भूतस्य**=इस सृष्टि में वर्त्तमान प्रत्येक प्राणी के **तत्**=उस **आस्थानम्**=आधारभूत प्रभु को **वेधसः**=ज्ञानी भी **विदुः न वा**=जानते हैं या नहीं जानते। वस्तुतः उस प्रभु का जानना सुगम नहीं होता। वे प्रभु अचिन्त्य व अप्रमेय हैं, चक्षुरादि इन्द्रियों से ग्राह्य नहीं हैं। मन से उसका मापना सुगम नहीं। इसी कारण सामान्यतया मनुष्य इन द्यावापृथिवी आदि पदार्थों को ही इन वीरुधों का आधार मान लेता है—इन्हीं से उन्हें प्राणित होता हुआ समझता है। वस्तुतः इन द्यावापृथिवी को भी प्राणित करनेवाला प्रभु ही है।

भावार्थ—सबका आधार, सबके अन्दर स्थित वे प्रभु ही हैं। इस प्रभु का ज्ञान ज्ञानियों के लिए भी सुगम नहीं होता।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**द्यावापृथिवी** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

सदा नवीन

यद्रोदसी रेजमाने भूमिश्च निरतक्षतम्। आर्द्रं तदद्य सर्वदा समुद्रस्येव स्रोत्याः ॥ ३ ॥

१. **रेजमाने**=चमकते (to shine) हुए **रोदसी**=ये द्यावापृथिवी **च भूमिः**=अथवा यह भूमि **यत्**=जिस भी **आर्द्रम्**=रस का **निरतक्षतम्**=निर्माण करते हैं **तत्**=वह रस **अद्य**=आज की भाँति **सर्वदा**=सदा ही **समुद्रस्य**=समुद्र के **स्रोत्याः इव**=स्रोतों के समान है। जैसे समुद्र के स्रोत शुष्क नहीं होते, इसीप्रकार इन द्यावापृथिवी से उत्पन्न किया गया रस शुष्क नहीं हो जाता। २. प्रभु की यह भी अद्‌भुत ही रचना है कि द्यावापृथिवी में रस-निर्माण की शक्ति बनी ही रहती है। एक चाक्रिक क्रम से गति करती हुई यह शक्ति सदा समानरूप से बनी रहती है। पृथिवी में एक चक्र में (by rotation) विविध अन्न बोये जाते हैं और पृथिवी की उपजाऊ शक्ति में कमी नहीं आती। सनातनकाल से बरसता हुआ यह मेघ बरसता ही रहेगा। 'बरसते-बरसते थक जाएगा' ऐसी बात नहीं है।

भावार्थ—प्रभु से द्यावापृथिवी में स्थापित की गई शक्ति सदा नवीन-सी बनी रहती है।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**द्यावापृथिवी** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

परस्पर सम्बद्धता

विश्वमन्यामभीवार तदन्यस्यामधि श्रितम्।
दिवे च विश्ववेदसे पृथिव्यै चाकरं नमः ॥ ४ ॥

१. **विश्वम्**=(सर्वं विशति यस्मिन्) यह व्यापक आकाश **अन्याम्**=दूसरी—अपने से विलक्षण इस पृथिवी को **अभीवार**=चारों ओर से घेरे हुए है। वस्तुतः आकाश के एक देश में ही पृथिवी स्थित है, परन्तु **तत्**=वह आकाश **अन्यस्याम्**=अपने से भिन्न इस पृथिवी में **अधिश्रितम्**=आश्रित है। पृथिवीस्थ जल ही वाष्पीभूत होकर आकाश में पहुँचता है और आकाश को वर्षण के योग्य बनाता है। २. इसप्रकार परस्पर सम्बद्ध **दिवे च पृथिव्यै**=द्युलोक और पृथिवीलोक के लिए जो **विश्ववेदसे**=सब आवश्यक ओषधियों, वनस्पतियों व अन्य धनों को प्राप्त करानेवाले हैं **नमः अकरम्**=मैं आदर की भावना धारण करता हूँ। इनमें मुझे प्रभु की महिमा दीखती है और मैं नतमस्तक हो जाता हूँ।

भावार्थ—प्रभु ने द्यावापृथिवी को परस्पर सम्बद्ध बनाकर इन्हें सब ओषधियों का जन्मदाता बना दिया है। प्रभु की यह महिमा हमें उसके प्रति नतमस्तक करनेवाली है।

विशेष—इस सूक्त में द्युलोक की महिमा का वर्णन करके उस महिमा के आधारभूत प्रभु की महिमा का वर्णन हुआ है। ये द्युलोक व पृथिवीलोक जिस वृष्टि की व्यवस्था करते हैं उस वृष्टि से प्राप्त जल का महत्त्वपूर्ण वर्णन अगले सूक्त में है। इन जलों से सब प्रकार की शान्ति का विस्तार करनेवाला 'शन्ताति' ही इस सूक्त का ऋषि है। यह प्रार्थना करता है—

३३. [त्रयस्त्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**शन्तातिः** ॥ देवता—**आपः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

शुचि-पावक जल

हिरण्यवर्णाः शुचयः पावका यासु जातः सविता यास्वग्निः।
या अग्निं गर्भं दधिरे सुवर्णास्ता न आपः शं स्योना भवन्तु ॥ १ ॥

१. **ताः आपः**=वे जल **नः**=हमारे लिए **शम्**=शान्ति देनेवाले व **स्योनाः**=सुखकर **भवन्तु**=हों, **याः**=जो **अग्निं गर्भं दधिरे**=अग्नि को गर्भ में धारण करते हैं, अतः **सुवर्णाः**=बड़े उत्तम वर्णवाले हैं। उत्तम वर्णवाले ही क्या, **हिरण्यवर्णाः**=स्वर्ण के समान चमकते हुए वर्णवाले हैं, **शुचयः**=पवित्र हैं, **पावकाः**=हमें पवित्र करनेवाले हैं, **यासु**=जिनमें **सविता**=सूर्य **जातः**=प्रादुर्भूत हुआ है, अर्थात् ये सूर्य-किरणों के सम्पर्क में आते हैं, **यासु अग्निः**=जिनसे अग्नि प्रादुर्भूत हुआ है, अर्थात् जो अग्नि पर रखकर उबाला गया है। २. वही जल हितकर हैं जो (क) सूर्य-किरणों के सम्पर्क में आते हैं (ख) जिनको अग्नि पर गरम कर लिया गया है (ग) जिनमें किसी प्रकार का मल नहीं पड़ गया, अतएव चमकते हैं।

भावार्थ—सूर्य-किरणों के सम्पर्कवाले, अग्नि पर उबाले गये जल हमारे लिए नीरोगता देकर सुखकर हों।

ऋषिः—**शन्तातिः** ॥ देवता—**आपः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'वरुण' के जल

यासां राजा वरुणो याति मध्ये सत्यानृते अवपश्यञ्जनानाम्।
या अग्निं गर्भं दधिरे सुवर्णास्ता न आपः शं स्योना भवन्तु ॥ २ ॥

१. जलों का अधिष्ठातृदेव 'वरुण' कहलाता है। यह अशुभ का निवारण करनेवाला है। यह शरीर से रोगों को दूर करता है तो मन से अनृत को हटाता है। ये **वरुणः**=वरुण **जनानां मध्ये याति**=मनुष्यों के मध्य में विचरते हैं—विद्यमान हैं, **सत्यानृते अवपश्यन्**=उनके सत्य व अनृतों को देख रहे हैं। इसप्रकार ये हमें अनृत से पृथक् करते हैं और सत्य से संयुक्त करते हैं। ये वरुण **यासां राजा**=जिन जलों के अधिष्ठातृदेव हैं और **याः**=जो जल **अग्निं गर्भं दधिरे**=अग्नि को अपने मध्य में धारण करते हैं, **सुवर्णाः**=उत्तम वर्णवाले हैं **ताः आपः**=वे जल **नः**=हमारे लिए **शम्**=शान्ति देनेवाले व **स्योनाः**=सुखकर **भवन्तु**=हों। २. जलों के अधिष्ठातृदेव को वरुण कहा गया है। वरुण 'निवारक' हैं—दोषों का निवारण करके हमें श्रेष्ठ बनानेवाले हैं। जल भी हमारे रोगों का निवारण करके हमें स्वास्थ्य प्रदान करते हैं और क्रोधादि को दूर करके शान्तिलाभ कराते हैं। सामान्यतः उस पानी का पीने में प्रयोग अधिक हितकर है जिसे उबाल लिया गया है, जिसे अग्निगर्भ बना लिया गया है।

भावार्थ—जलों का राजा 'वरुण' है—दोषों का निवारक, अत: ये जल दोषों के निवारक क्यों न हों?

ऋषिः—**शन्तातिः** ॥ देवता—**आपः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

देव-भक्ष्य जल (मेघ-जल)

यासां देवा दिवि कृण्वन्ति भक्षं या अन्तरिक्षे बहुधा भवन्ति।
या अग्निं गर्भं दधिरे सुवर्णास्ता न आपः शं स्योना भवन्तु॥ ३॥

१. **दिवि**=द्युलोकस्थ सूर्य में स्थित **देवः**=प्रकाशमय किरणें **यासाम्**=जिन जलों का **भक्षं कृण्वन्ति**=भक्षण करती हैं, अर्थात् जो जल सूर्य-किरणों से वाष्पीभूत होकर द्युलोक की ओर जाते हैं, वे उन किरणों का मानो भोजन ही बन जाते हैं। **याः**=जो जल **अन्तरिक्षे**=अन्तरिक्षलोक में मेघरूप में **बहुधा**=बहुत प्रकार से **भवन्ति**=होते हैं। सूर्य-किरणों का भोजन बनने के पश्चात् ये जल अन्तरिक्ष में बादलों के रूप में परिणत हो जाते हैं। वे बादल विविध आकारों को धारण करते रहते हैं। **याः**=जो अन्तरिक्षस्थ मेघ-जल **अग्निं गर्भं दधिरे**=विद्युद्रूप अग्नि को गर्भ में धारण करते हैं, वे **सुवर्णाः**=उत्तम वर्णवाले हैं **ताः आपः**=वे जल **नः**=हमारे लिए **शम्**=शान्ति देनेवाले व **स्योनाः**=सुखकर **भवन्तु**=हों। २. मेघ-जल स्वभावत: अत्यन्त शुद्ध होता है। यह अपने गर्भ में विद्युत् के प्रभाव को लिये हुए होता है। इसप्रकार यह नीरोगता के लिए अत्यन्त श्रेष्ठ है।

भावार्थ—विद्युद्रूप अग्नि को गर्भ में धारण करनेवाले मेघ-जल नीरोगता देनेवाले हैं।

ऋषिः—**शन्तातिः** ॥ देवता—**आपः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

शिव जल

शिवेन मा चक्षुषा पश्यतापः शिवया तन्वोप स्पृशत त्वचं मे।
घृतश्चुतः शुचयो याः पावकास्ता न आपः शं स्योना भवन्तु॥ ४॥

१. हे **आपः**=जलो! आप **मा**=मुझे **शिवेन चक्षुषा**=कल्याणकर मङ्गलमयी आँख से **पश्यत**=देखो, अर्थात् जल के प्रयोग से मेरी आँखें शिव बनें—मेरी आँखों में किसी प्रकार का विकार न हो। २. हे जलो! आप **शिवया तन्वा**=कल्याणकर शरीर से **मे त्वचम्**=मेरी त्वचा को **उपस्पृशत**=स्पृष्ट करो। जलों का त्वचा पर अभ्यञ्जन (sponging) के प्रकार के किया गया प्रयोग त्वचा को स्निग्ध व नीरोग बनाए। ३. **घृतश्चुतः**=हमारे अन्दर दीप्ति व नैर्मल्य का क्षरण करनेवाले **शुचयः**=पवित्रता को लानेवाली **याः**=जो **पावकाः**=मानस भावनाओं को भी पवित्र

करनेवाले हैं **ताः**=वे **आपः**=जल **नः**=हमारे लिए **शम्**=शान्ति देनेवाले व **स्योनाः**=सुखकर **भवन्तु**=हों।

भावार्थ—जलों का सुप्रयोग आँखों व त्वचा को सौन्दर्य प्राप्त कराता है। ये जल मलों को दूर करके शरीर को स्वास्थ्य की दीप्ति प्रदान करते हैं, शरीर व मन को पवित्र करते हैं।

विशेष—यह सूक्त जलों के सुप्रयोग से सुख व शान्ति की प्राप्ति का वर्णन कर रहा है। यह नीरोग व शान्त जीवनवाला व्यक्ति 'अथर्वा' स्थिर वृत्ति का बनता है और मधुवल्ली (इक्षु) से प्रेरणा प्राप्त करके अपने जीवन को मधुर बनाने का प्रयत्न करता है।

३४. [चतुस्त्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मधुवनस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

इयं वीरुन्मधुजाता मधुना त्वा खनामसि।
मधोरधि प्रजातासि सा नो मधुमतस्कृधि॥ १॥

१. **इयं वीरुत्**=यह इक्षुदण्ड—गन्ने का पौधा **मधुजाता**=(मधुजातं यस्याम्) माधुर्य के विकासवाला हुआ है। हे इक्षुदण्ड! **त्वा**=तुझे **मधुना**=मधुरता के हेतु से—माधुर्य को प्राप्त करने के लिए **खनामसि**=खोदते हैं। २. **मधोः**=माधुर्य के हेतु से तू **अधिप्रजाता असि**=आधिक्येन उत्पन्न हुआ है। **सा**=वह तू **नः**=हमें **मधुमतः कृधि**=माधुर्यवाला कर। तेरे सेवन से हम भी माधुर्यवाले बनें। हमारा सारा व्यवहार माधुर्य को लिये हुए हो।

भावार्थ—इक्षुदण्ड मधुर-ही-मधुर है। इसका सेवन हमें भी मधुर बनाए।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मधुवनस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

मधुर शब्द, मधुर-व्यवहार

जिह्वाया अग्रे मधु मे जिह्वामूले मधूलकम्।
ममेदह क्रतावसो मम चित्तमुपायसि॥ २॥

१. **मे**=मेरी **जिह्वायाः अग्रे**=जिह्वा के अग्रभाग में **मधु**=माधुर्य हो, **जिह्वामूले**=जिह्वा के मूल में भी **मधूलकम्**=माधुर्य की ही प्राप्ति हो (मधु+उर+क, उर् गतौ)। मैं जिह्वा से कभी कटु शब्द बोल ही न पाऊँ। **इत् अह**=निश्चय से **मम क्रतौ**=मेरे कर्ममात्र में **असः**=यह माधुर्य हो। हे माधुर्य! तू **मम चित्तम् उपायसि**=मेरे चित्त को समीपता से प्राप्त हो, अर्थात् मेरे कर्म तो मधुर हों ही, मैं चित्त में भी कटुता न आने दूँ।

भावार्थ—मेरी बोलचाल तथा मेरे कर्म माधुर्य को लिये हुए हों। मेरे चित्त में भी कभी कटु-विचार न आये।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मधुवनस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

आना-जाना भी मधुर हो

मधुमन्मे निक्रमणं मधुमन्मे परायणम्।
वाचा वदामि मधुमद्भूयासं मधुसन्दृशः॥ ३॥

१. **मे**=मेरा **निक्रमणम्**=(नि=in) अन्दर आना अथवा समीप प्राप्त होना **मधुमत्**=माधुर्य को लिये हुए हो। **मे**=मेरा **परायणम्**=बाहर व दूर (पर=far) जाना भी **मधुमत्**=माधुर्यवाला हो। **वाचा**=वाणी से **मधुमत्**=माधुर्यवाले शब्द ही **वदामि**=बोलूँ। मैं **मधुसन्दृशः भूयासम्**=मधु-जैसा ही हो जाऊँ। २. यहाँ '**निक्रमणं व परायणम्**' शब्द आने-जाने को कहते हुए व्यवहारमात्र

के प्रतीक हैं। हमारा सारा व्यवहार मधुर हो। विशेषकर बोलने में तो मिठास हो ही। ठीक तो यही है हम मीठे-मीठे हो जाएँ, कटुव्यवहार हमसे सम्भव ही न हो।

भावार्थ—हमारा सब व्यवहार मधुर हो।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**मधुवनस्पतिः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

शहद से भी अधिक मीठे

मधोरस्मि मधुतरो मदुघान्मधुमत्तरः। मामित्किल त्वं वनाः शाखां मधुमतीमिव॥ ४॥

१. मैं **मधोः**=वसन्तऋतु से भी अथवा शहद से भी **मधुतरः अस्मि**=अधिक मिठासवाला होऊँ। मेरे व्यवहार के माधुर्य के सामने शहद का मिठास भी फीका पड़ जाए। **मधुघात् (मधु-दुघात्)**=माधुर्य का दोहन करनेवाले इस इक्षुदण्ड से भी **मधुमत्तरः**=मैं अधिक मिठासवाला होऊँ। हे माधुर्य! **त्वम्**=तू **माम्**=मुझे **इत् किल**=निश्चय से **वनाः**=सेवन कर—प्राप्त हो। उसी प्रकार प्राप्त हो **इव**=जैसेकि **मधुमतीं शाखाम्**=इस माधुर्यवाली इक्षुदण्डरूप शाखा को तू प्राप्त होता है।

भावार्थ—हम शहद से भी अधिक मीठे बनें।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**मधुवनस्पतिः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

माधुर्य का प्रेरक इक्षुदण्ड

परि त्वा परितत्नुनेक्षुणागामविद्विषे। यथा मां कामिन्यसो यथा मन्नापगा असः॥ ५॥

१. पति पत्नी से कहता है कि **त्वा**=तुझे **परितत्नुना**=चारों ओर फैलनेवाले **इक्षुणा**=इस इक्षुदण्ड के साथ **अविद्विषे**=सब प्रकार की अप्रीति को दूर करने के लिए **परि आगाम्**=सब ओर से प्राप्त हुआ हूँ, **यथा**=जिससे तू भी **मां कामिनी**=मुझे चाहनेवाली, मुझसे प्रीति करनेवाली **असः**=हो, **यथा**=जिससे **मत्**=मुझसे **अपगाः**=दूर जानेवाली तू **न असः**=न हो। २. इक्षुदण्ड को लेकर आने का भाव इतना ही है कि इक्षुदण्ड से माधुर्य की प्रेरणा लेकर आना। जब पति पत्नी के साथ सदा मधुर व्यवहार करने का व्रत लेकर उपस्थित होता है तभी वह पत्नी से भी यह आशा करता है कि वह उसी के प्रति प्रेमवाली होगी और कभी उससे दूर होने का ध्यान न करेगी। ३. यह पंक्ति राजा व राष्ट्रसभा के लिए भी विनियुक्त हो सकती है। इसीप्रकार आचार्य व छात्र के लिए भी।

भावार्थ—पति का मधुर व्यवहार पत्नी को उसके प्रति प्रेमवाला बनाए।

विशेष—सूक्त की भावना एक पंक्ति में यही है कि हम मधुर-ही-मधुर बनें। ऐसा बनने के लिए आवश्यक है कि हम अपने में शक्ति धारण करें। शक्ति का ह्रास ही हमें खिझने की वृत्तिवाला बनाता है, अतः अथर्वा की कामना है—

३५. [पञ्चत्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा (आयुष्कामः)**॥ देवता—**मधुवनस्पतिः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

हिरण्य-बन्धन

यदाबध्नन्दाक्षायणा हिरण्यं शतानीकाय सुमनस्यमानाः।
तत्ते बध्नाम्यायुषे वर्चसे बलाय दीर्घायुत्वाय शतशारदाय॥ १॥

१. **दाक्षायणः**=(दक्ष=to grow) सब प्रकार की उन्नति की कामनावाले **सुमनस्यमानाः**=सौमनस्य (मन की प्रसन्नता) को चाहनेवाले लोग **शतानीकाय**=सौ-के-सौ वर्ष तक बल की स्थिरता के लिए **यत्**=जिस **हिरण्यम्**=हितरमणीय वीर्यशक्ति को **आबध्नन्**=अपने अन्दर बाँधते

हैं, **तत्**=उस हिरण्य को **ते**=तेरे लिए **दीर्घायुत्वाय**=तेरा जीवन दीर्घ हो, **शतशारदाय**=तू पूरे सौ वर्ष तक चल सके, इसलिए धारण करता हूँ कि **वर्चसे**=तुझमें वर्चस् हो, वह प्राणशक्ति हो जो शरीर में रोगकृमियों से संघर्ष में विजय प्राप्त करती है और **बलाय**=तेरा मन बलवान् बने।

भावार्थ—वीर्यरक्षा से (क) सब प्रकार की उन्नति सम्भव होती है (**दाक्षायणाः**), (ख) मन प्रसन्न रहता है (**सुमनस्यमानाः**), दीर्घजीवन की प्राप्ति होती है, (घ) शरीर वर्चस्वी होता है और (ङ) मन सबल बनता है।

ऋषिः—**अथर्वा (आयुष्कामः)**॥ देवता—**हिरण्यम्**॥ छन्दः—**जगती**॥

दाक्षायण-हिरण्य

नैनं रक्षांसि न पिशाचाः सहन्ते देवानामोजः प्रथमजं ह्ये३तत्।
यो बिभर्ति दाक्षायणं हिरण्यं स जीवेषु कृणुते दीर्घमायुः॥ २॥

१. **एनम्**=गतमन्त्र में वर्णित हिरण्य को **रक्षांसि**=अपने रमण के लिए औरों का क्षय करनेवाले रोगकृमि (parasites) **न सहन्ते**=सहन नहीं कर पाते, अर्थात् इस हिरण्य से इनका हरण हो जाता है। इसीप्रकार **पिशाचाः**=हमारे मांस को ही खा जानेवाले कैंसर आदि रोगों के कृमि भी इस हिरण्य को नहीं सह सकते। इसके द्वारा उनका भी विनाश होता है। **यः**=जो भी व्यक्ति **दाक्षायणं हिरण्यम्**=सब प्रकार की उन्नतियों के कारणभूत-रोगकृमि-विनाशक इस वीर्य को **बिभर्ति**=धारण करता है, **सः**=वह **जीवेषु**=प्राणियों में **दीर्घम् आयुः**=दीर्घ जीवन को **कृणुते**=सिद्ध करता है। रोगकृमियों के नाश से नीरोग शरीर, पूर्णायुष्य तक क्यों न चलेगा?

भावार्थ—वीर्यरक्षण से रोग नहीं आते और आयुष्य का भङ्ग (रुजो भङ्गे) न होने से मनुष्य दीर्घजीवी होता है।

ऋषिः—**अथर्वा (आयुष्कामः)**॥ देवता—**हिरण्यम्**॥ छन्दः—**जगती**॥

जलों व वनस्पतियों का सेवन

अपां तेजो ज्योतिरोजो बलं च वनस्पतीनामुत वीर्या३णि।
इन्द्रइवेन्द्रियाण्यधि धारयामो अस्मिन्तद्दक्षमाणो बिभरद्धिरण्यम्॥ ३॥

१. गतमन्त्र में वर्णित हिरण्य क्या है? इसका उत्तर देते हुए करते हैं—यह **अपाम्**=जलों का **तेजः**=तेज है, यह **ज्योतिः**=जलों की ज्योति है, **ओजः बलं च**=यह जलों का ओज व बल है। जलों से उत्पन्न हुआ यह तेज अन्नमयकोश को तेजस्वी बनाता है, विज्ञानमयकोश को ज्योतिर्मय और मनोमय कोश को ओजस्वी व बलवान् बनाता है। २. **उत**=और यह हिरण्य **वनस्पतीनां वीर्याणि**=वनस्पतियों के वीर्य हैं। यह हिरण्य क्या है? वानस्पतिक पदार्थों के सेवन से शरीर में उत्पन्न हुई यह प्राणमयकोश को वीर्यवान् बनाती है। ३. इस हिरण्य के शरीर में रक्षण के लिए हम **इन्द्रः इव**=एक जितेन्द्रिय पुरुष की भाँति **इन्द्रियाणि**=इन्द्रियों को **अधिधारयामः**=आधिक्येन धारण करते हैं—इन्द्रियों को अपने वश में करते हैं। इन्द्रियों को वश में करने से ही इनका रक्षण हो सकता है। ४. इसप्रकार इन्द्रियों को वश में करनेवाला **दक्षमाणः**=सब प्रकार की उन्नति चाहनेवाला पुरुष **अस्मिन्**=इस शरीर में **तत्**=उस **हिरण्यम्**=हितरमणीय वीर्य को **बिभरत्**=धारण करता है।

भावार्थ—शरीर में धारण किया गया जलों व वनस्पतियों से उत्पन्न 'हिरण्य' अन्नमयकोश को तेजस्वी बनाता है, प्राणमयकोश को वीर्यसम्पन्न, मनोमयकोश को ओजस्वी व बलवान् तथा विज्ञानमयकोश को ज्योतिर्मय।

ऋषि:—**अथर्वा (आयुष्काम:)**॥ देवता—**हिरण्यम्**॥ छन्द:—**अनुष्टुब्गर्भाचतुष्पदात्रिष्टुप्**॥

गृहस्थ में संयम

समा॑नां मा॒साम॒तुभि॑ष्ट्वा व॒यं सं॑वत्स॒रस्य॒ पय॑सा पिपर्मि।
इ॒न्द्रा॒ग्नी विश्वे॑ दे॒वास्ते ऽनु॑ मन्यन्ता॒मह्र॑णीयमाना:॥ ४॥

१. **वयम्**=कर्मतन्तु का सन्तान करनेवाला (वेञ् तन्तुसन्ताने) मैं, हे (जलों के तेज) वीर्य! **त्वा**=तुझे **समानां पयसा**=शुक्ल व कृष्णपक्ष के आप्यायन से **पिपर्मि**=अपने में पूरित करता हूँ। मास समरूप से शुक्ल व कृष्ण इन दो पक्षों में बँटा होता है, अत: इन पक्षों को यहाँ 'समा' शब्द से स्मरण किया गया है। गृहस्थ में होते हुए भी कम-से-कम पक्षभर अपने में शक्ति को पूर्ण करने का प्रयत्न करना चाहिए। इससे ऊपर उठकर **मासाम्**=(पयसा पिपर्मि)=मासों के आप्यायन से इस शक्ति को अपने में पूरित करता हूँ और उन्नत होकर **ऋतुभि:**=दो-दो मास से बनी हुई ऋतुओं से मैं इसे अपने में धारण करता हूँ और इससे उत्तम सङ्कल्प यह है कि **संवत्सरस्य (पयसा पिपर्मि)**=वर्षभर के आप्यायन से मैं तुझे अपने में पूरित करता हूँ। २. इसप्रकार अपने में शक्ति का संयम करने पर **इन्द्राग्नी**=इन्द्र और अग्नि—शक्ति तथा प्रकाश के देवता तथा **ते विश्वेदेवा:**=वे अन्य सब दिव्य गुण भी **अहृणीयमाना:**=हमारे प्रति किसी भी प्रकार के रोषवाले न होते हुए **अनुमन्यन्ताम्**=अनुकूल मतिवाले हों, अर्थात् इस शक्ति के रक्षण से हमें सब दिव्य गुणों की प्राप्ति हो।

भावार्थ—शक्ति के रक्षण के लिए मनुष्य गृहस्थ में भी पर्याप्त संयम से चले और अपने में दिव्य गुणों का वर्धन करे।

विशेष—सम्पूर्ण सूक्त 'हिरण्य बन्धन', अर्थात् हितरमणीय वीर्यशक्ति को शरीर में ही बद्ध करने के महत्त्व को प्रतिपादित कर रहा है। इसका बन्धन करनेवाला 'अथर्वा' है—वासनाओं से डाँवाडोल न होनेवाला।

यहाँ प्रथम काण्ड समाप्त होता है। इस काण्ड का आरम्भ आचार्य द्वारा विद्यार्थी में शरीर की शक्तियों को धारण कराने से होता है। उन शक्तियों को धारण करने के लिए समाप्ति पर यह '**हिरण्य-बन्धन**'=वीर्यरक्षण साधनरूप से उपदिष्ट हुआ है। एवं, जीवन का पहला नियम यही है कि 'हम पूर्ण स्वस्थ बनें। स्वास्थ्य के लिए वीर्य का रक्षण करें'। इस नियम का पालन करनेवाला अब प्रभु-भक्ति की कामनावाला बनता है। 'वेनृ' धातु का अर्थ to know, to perceive तथा to worship है। उस प्रभु की महिमा को देखना, उसके द्वारा प्रभु को जानना व उसकी पूजा—उपासना करना। यह 'वेन' ही द्वितीय काण्ड के प्रथम सूक्त का ऋषि है।

॥ इति प्रथमं काण्डम्॥